आग की लकीर

दो उपन्यास

अमृता प्रीतम

हिन्दी बुक सेण्टर, नई दिल्ली, द्वारा प्रसारित

अमृता प्रीतम—

आग की लकीर

(दो उपन्यास)

प्रमुख वितरक :
हिन्दी बुक सेण्टर
४/५ बी, मासफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००१

प्रथम संस्करण
अप्रैल, १९७४

प्रकाशक : पंजाबी पुस्तक भण्डार,
दरीबा कलां, दिल्ली-११०००६

मूल्य : आठ रुपये (8.00)

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

आग की लकीर

सात कमरों की दो मंजिली कोठी का हर कमरा पक्की ईंटों का बना हुआ था। पर नीचे की मंजिल का एक कमरा, नन्दा का कमरा, नन्दा को लगा—काँच का बना हुआ था, काँच का फ़र्श, काँच की दीवारें और काँच की छत···

रात को, ठीक साढ़े ग्यारह बजे एक दीवार पर किसी ने एक पत्थर मारा था और काँच की दीवार, सब बाकी दीवारों के और उनके ऊपर की छत के, नन्दा के ऊपर गिर पड़ी थी···

माथे के विचारों वाले हिस्से को छोड़कर नन्दा के बाकी शरीर में से जैसे जान निकल चुकी थी। उसने, दीवान पर पड़े हुए हिलने की कोशिश की, पर अपने अंगों पर उसका बस नहीं था। हाथ, बाँह, पैर, कोई भी अंग नहीं हिला। और नन्दा को लगा—शायद काँच के कमरे की किरचों के साथ उसके शरीर में से सारा लहू बह चुका था और अब उसका शरीर निचुड़े हुए लहू वाले माँस की तरह, माँस का एक ढेर-जैसा दीवान पर पड़ा हुआ था···

"शरीर के बाकी अंगों की तरह, मेरे माथे का यह विचारों वाला हिस्सा भी क्यों नहीं मर गया?" नन्दा के माथे में एक टीस की तरह यह ख़याल आया।

इस समय चढ़ते हुए सूरज की रोशनी सीधी नन्दा की आँखों पर पड रही थी। नन्दा को लगा—जैसे रोशनी भी उसके माथे की तरह चकरा रही थी।

सूरज की रोशनी और नन्दा की आँखें शायद घबरा के एक भेद को खोज रही थीं···

"यह भेद—जब मैं पैदा हुई, मेरे साथ पैदा हुआ था···" नन्दा के माथे में उसके विचार घूम रहे थे। "मैंने ज़मीन पर घुटलियों चलना सीखा तो वह भी मेरे साथ चलता रहा, मैंने खड़े होना सीखा तो वह मेरे साथ खड़ा होता रहा, मैंने चलना सीखा, वह मेरे साथ-साथ चलता रहा···और अब उसकी उम्र भी बाईस बरस की हो गई

है, जितनी मेरी—उमर—पर मुझे बाईस बरस उसका पता नहीं लगा···"

"मैं कौन हूँ ?" नन्दा की आँखों ने चकरा कर सूरज की रोशनी से पूछा, पर रोशनी जवाब देने की जगह नन्दा की आँखों की तरह ही चकरा रही थी।

"रोज़ सूरज चढ़ता था, रोज़ सूरज की रोशनी होती थी···" नन्दा का माथा फिर चकफेरी में पड़ा हुआ था और एक ही दायरे में तेज़ी से घूम रहा था। "पर सूरज की रोशनी ने पहले कभी मेरी तरफ़ इस तरह नहीं देखा।"

और नन्दा की छाती में चुभती किरच जैसा ख़याल आया "नहीं, सूरज की रोशनी को तो यह भेद बाईस बरस से मालूम था, वह रोज़ मेरी तरफ़ देखती होगी, और हँस देती होगी कि मैं कितनी पागल हूँ, मुझे कुछ पता नहीं···"

नन्दा को एक तरह की शर्मिन्दगी का एहसास हुआ, और उसकी पलकों ने उसकी आँखों को ढक लिया मानो उसकी पलकें उसकी आँखों को सूरज की रोशनी से छुपा लेना चाहती थीं।

एक लाल-सा अँधेरा नन्दा की आँखों में भर गया।

नन्दा ने आँखें मीच रखी थीं पर उनपर पड़ती सूरज की रोशनी तेज़—हो रही थी। नन्दा, सोच रही थी—"जब तक कुछ पता नहीं था, अँधेरा काले रंग का था, मैं उसको टटोल-टटोल कर उसमें से कुछ ढूँढती नहीं थी। अब अँधेरा लाल रंग का हो गया है, अब मैं हमेशा इसे टटोलती रहूँगी, इसमें से कुछ खोजती रहूँगी···यह काला अँधेरा लाल रंग का क्यों बन गया ?"

"आज अँधेरे के बदन में से जैसे लहू बह रहा हो···" नन्दा के माथे में से ख़ौफ़ की एक लकीर-सी गुज़र गई "मैं अँधेरे की पैदाइश हूँ···सो, अँधेरे के बदन में से बहते हुए लहू का रंग मेरे शरीर के लहू का रंग है···"

नन्दा ने पीछे दूर तक—दस, पन्द्रह, बीस बरस तक ध्यान लगा कर देखा पर उसे बाप की जगह डाक्टर जसवन्त राय मदान का चेहरा और माँ की जगह लाज बीबी का चेहरा ही दिखाई दे रहा था—और कुछ नहीं दीख रहा था—और जो कुछ था सिर्फ़ अँधेरा था। "हर बच्चे के लहू का रंग अपने माँ बाप के लहू का रंग होता है" नन्दा जैसे अपने आप को दलील दे रही थी "और अब जब लोग

कहते हैं मेरे लहू का रंग मेरे माँ बाप के लहू का रंग नहीं—तो फिर मेरे लहू का रंग अँधेरे के लहू का रंग, है···"

नन्दा अपने तर्क से आप ही शान्त जैसी हो गई। "सो-अँधेरा मेरी माँ, अँधेरा मेरा बाप···"

और वह अँधेरे के उस टुकड़े को ढूंढने लगी जो—बाईस बरस पीछे दूर किसी अँधेरे में अँधेरे का एक टुकड़ा था···

नन्दा ने बड़े जतन से अपने ज़हन में से जसवन्त पापा और लाज बीबी के नक्श को मिटाकर अँधेरे में से किसी और पापा और किसी और माँ के नक्शे पकड़ने चाहे। लेकिन उँगलियों में से छनती हुई मिट्टी की तरह और सभी नक्श उसके ज़हन में से छन जाते थे—और उसके खयालों में फिर जसवन्त पापा और लाज बीबी के नक्श सही सालिम हो जाते थे।

नन्दा कुछ द्विविधा में पड़ कर अपने कानों से ही पूछने लगी "रात तुमने क्या सुना था? सचमुच सुना था?"

कान शर्मिन्दा-से हो गए।

रात को नन्दा के कान चुपचाप दीवार से लगे हुए थे। दीवार के साथ लगे हुए पिछवाड़े के बगीचे में डाक्टर मदान एक पेड़ के पास बड़ी देर से खड़े हुए थे। लाज बीबी ने कई बार उनके पास जाकर उनसे खाना खाने के लिए कहा था, लेकिन वह खाना खाने के लिए अन्दर नहीं आए। लाज बीबी ने बाकी सबको खाना खिला दिया था—तीन बेटों को भी, और सबसे छोटी लड़की नन्दा को भी। और सबको कमरों में भेजकर वह खुद पिछवाड़े के बगीचे में चली गई थीं। तीनों लड़कों के तीन कमरे ऊपर की छत पर थे, पर नन्दा का कमरा नीचे की मंज़िल पर अपने माता-पिता के कमरे के साथ लगा हुआ था—जिसके पिछवाड़े एक छोटा-सा बगीचा था। नन्दा अपने पिता की परेशानी से परेशान थी, उसे नींद नहीं आई—और फिर रात के ठीक साढ़े ग्यारह बजे थे—जिस समय उसके परेशान पापा ने उसकी माँ को बताया था कि उन्होंने नन्दा के वास्ते जिस लड़के को देखा है, और जिसके साथ उसका विवाह पक्का किया है, आज उस लड़के के पिता ने आकर कहा था कि यह विवाह नहीं हो सकेगा क्योंकि उसको पता लगा है कि नन्दा उनकी अपनी असली बेटी नहीं है···

नन्दा के कान रात से शर्मिन्दा हैं। अब सवेरे उनको रात वाली बात याद आई तो वह और भी शर्म से नन्दा के मुंह की तरफ देखने

लगे···पर नन्दा को लगा—अब वह शायद आप कभी अपने मुँह की तरफ़ नहीं देख सकेगी···

कानों को लाज बीबी की आवाज भी याद थी "बेटी असली नहीं ? बेटी कभी नकली भी होती है ? बाईस बरस के बाद मुझसे इन मुए लोगों ने यही कहना था ?" और कानों में लाज बीबी के रोने की आवाज अटकी की अटकी रह गई थी।

और फिर लाज बीबी के आँसू नन्दा के कानों में भर गए थे—आगे नन्दा को कुछ सुनाई नहीं दिया। फिर नन्दा को सिर्फ़ एक ही आवाज सुनाई दी थी—जैसे एक पत्थर खडाक से उसकी दीवार से टकराया हो—और पक्की ईंटों की दीवार काँच की दीवार की तरह टूट गई हो—और काँच की छत उसके सिर पर ढह गई हो···

२

नन्दा के बदन में बसी हुई रात, और बाहर भरा-पूरा चढ़ा हुआ दिन जैसे एक-दूसरे को झुठला रहे थे। नन्दा वैसी की वैसी ही दीवान पर पड़ी हुई थी।

और फिर उसे लगा—जैसे उसके बदन पर से कोई मलबे की तरह काँच की किरचों को हटा रहा हो, और उन काँच के टुकड़ों के नीचे दबी हुई को बाहर निकाल रहा हो···

आधी होश की हालत में नन्दा ने देखा—उसके पास लाज बीबी और जसवन्त पापा खड़े हुए हैं और लाज बीबी कह रही हैं "कितनी देर से तुझे जगा रही हूँ, तेरे ऊपर से कम्बल उतारा, चादर उतारी, तुझे कितनी बार हिलाया, तू जागती ही नहीं—"

नन्दा ने देखा, आँखें झपकीं, पर उठने से जैसे डर गई। उसे लग रहा था—मैं जरा भी हिलूँगी तो मुझपर गिरी हुई काँच की किरचें मेरे बदन में चुभ जाएँगी···

"क्या बात है नन्दू ! तुम्हें बुखार तो नहीं ?" पापा उसके माथे को छूकर देख रहे थे और कह रहे थे "नहीं, बुखार तो बिलकुल नहीं है।"

लाज बीबी ने पास चारपाई पर रखा हुआ चाय का प्याला उठाया, और बोलीं "उठ, चाय पी।"

नन्दा को याद आया—वह जब तक कॉलेज में पढ़ती रही थी,

रात को बड़ी देर से सोया करती थी और रोज़ सवेरे उसको लाज बीबी चाय देकर उठाया करती थी। पर अब जब छः सात महीनों से वह कॉलेज खत्म करके खाली थी तो रोज़ सवेरे वह लाज बीबी की जगह सबको चाय बनाकर जगाया करती थी···

नन्दा सकुचाती-सी दीवान से उठी और उसने लाज बीबी के हाथ से चाय का प्याला ले लिया···

एकाएक मन में आया—लाज बीबी के गले से लग कर पूछे "सच बताना बीजी, मैं आपकी असली बेटी नहीं ?"

पर साथ ही लाज बीबी की रात वाली रुआँसी-सी आवाज़ ध्यान में आई "बाईस बरस बाद मुझसे इन मुए लोगों ने क्या यही कहना था ?" और नन्दा को लगा जैसे लाज बीबी की थकी हुई आँखें उसके मुँह की तरफ देखकर कह रही हों "बाईस बरस बाद तूने मुझसे यही पूछना था ?" और नन्दा की जीभ जैसे गूँगी हो गई।

फिर गरम चाय के प्याले के साथ नन्दा के बदन में कुछ जान-सी आ गई और वह लाज बीबी के पीछे-पीछे रसोई में जाकर उनके साथ रसोई का काम करने लगी।

मेज पर नाश्ते की प्लेटें रखते हुए नन्दा को खयाल आया—जो भेद मैं नहीं जानती वह शायद घर के बड़े लड़कों को पता होगा—बड़ा रवि मुझसे छः बरस बड़ा है, उससे छोटा अशोक चार बरस—उन्होंने छुटपन में ज़रूर कुछ देखा सुना होगा—उन्हें ज़रूर कुछ पता होगा···सिर्फ सबसे छोटा परम मुझसे दो बरस बड़ा है, उसे शायद कुछ पता न हो···

नन्दा रोज़ जब टोस्टर में डबल रोटी सेकती थी, और जो टुकड़ा कुछ ज्यादा सिक जाता था वह जानकर रवि की प्लेट में रखती थी और हँसा करती थी "भाईजान अब भाभी ले आओ, नहीं तो बहन के हाथों जले हुए टोस्ट खाने पड़ेंगे।"

रवि ने अपनी पढ़ाई पूरी करली थी और अब डाक्टर बनकर अपने पिता के साथ उनके क्लीनिक में काम करता था। पर अभी विवाह के लिए राज़ी नहीं हो रहा था इसलिए रोज़ नन्दा उसके साथ मज़ाक किया करती थी। आज नन्दा का ध्यान इस तरफ नहीं था। वह सिर्फ रवि के मुँह पर से कोई भेद पढ़ लेना चाहती थी—इसलिए कुछ भी, कोई भी बात ज़रूर करना चाहती थी, पर कुछ भी कोई भी बात समझ में नहीं आ रही थी—इसलिए आदत के मुताबिक़ यही मज़ाक

दोहराया गया।

पहले रोज इस मजाक के जवाब में रवि ने कहा था "इस भाईजान की किस्मत में तो नन्दा हमशीरा के हाथ के जले हुए टोस्ट ही लिखे हुए हैं···।" पर आज जब नन्दा ने वही जले हुए टोस्ट वाला मजाक किया तो रवि ने हँसकर कहा "भई, आखिर मेरी किस्मत बदल ही गई—अब अगले महीने से जले हुए टोस्ट तेरे भाईजान को जगह तेरे दूल्हा मियाँ मिस्टर जे० सी० पुरी को मिला करेंगे···"

नन्दा का ध्यान सहज स्वभाव अपने पापा के मुँह की तरफ़ गया। डाक्टर मदान हमेशा बच्चों के मजाक में शरीक होते थे, पर आज वह मुँह नीचा किये चाय ही रहे थे···

रवि ने उत्साह के साथ पापा को अपने मजाक में शामिल करना चाहा। कहा "पापा, मिस्टर पुरी को जले हुए टोस्ट खिलाने की कौन सी तारीख़ पक्की की है ?"

पापा चाय के प्याले की तरफ देखते रहे—फिर धीरे से कहने लगे "अभी मैं सोच रहा हूँ—पुरी मुझे बहुत पसन्द नहीं है···" और फिर रवि की तरफ़ देखते हुए कहने लगे "तुमने अपने एक दोस्त की बात की थी, वह जो कनाडा में है···"

रवि जरा सा तमक गया "पापा, आप उसकी बात तो सुनते ही नहीं थे, कहते थे आप कभी भी नन्दा को इतनी दूर नहीं भेज सकते···"

पापा चुप थे। रवि कुछ नहीं समझ सका, पर नन्दा समझ गई —यहाँ इस देश में जैसे पुरी ने भेद का पता लगा लिया था, कोई भी लगा सकता था, पर अगर कोई किसी और देश में हो—यहाँ से बहुत दूर—उसे शायद कभी भी कुछ पता न लगे···

नन्दा को लगा—जैसे उसने पापा की सारी चिन्ता काग़ज़ पर लिखी हुई पढ़ ली हो और वह अपने दुःख से भी ज्यादा पापा के दुःख से पीड़ित हो गई।

कोई खौफ़ पास आता हुआ दिखाई दे—इन्सान घबराता। पर जब सामने आ खड़ा हो—कोई उसके आगे तनकर खड़ा हो जाता है, कुछ इसी तरह नन्दा तन भी गई, और रवि की तरफ़ देखकर बोली "मुझे एक ज्योतिषी ने बताया है कि तेरे भाईजान की किस्मत नहीं बदल सकती—तेरे भाईजान को सारी उम्र जले हुए टोस्ट खाने पड़ेंगे।"

"अच्छा" रवि हँस पड़ा "इसका मतलब यह कि तेरी भाभी सारी

उम्र कुँवारी रहेगी।"

"नहीं, मामी नहीं···"नन्दा की आवाज़ बुझती आग जैसी हो गई "भाईजान की हमशीरा···"

पापा ने एक बार नन्दा के मुँह की तरफ देखा, फिर ध्यान परे कर लिया।

३

नन्दा अपने सारे सोच-फ़िक्र को जमा तफ़रीक करती हिसाब के एक सवाल की तरह हल करने की कोशिश करती रहती पर जवाब घूम-फिर कर वही आता—"बस दो ही बातें हो सकती हैं, एक यह कि मैं पैदा होते ही यतीम हो गई और इन लोगों ने मुझे यतीमखाने से निकाल कर अपने घर का आसरा दिया, या फिर···मैं किसी की ग़ैर-क़ानूनी औलाद हूँ···मेरा बाप मुझसे इनकारी···और माँ मुझसे आँखें चुराकर मुझसे बरतरफ़···"

यतीम और ग़ैरकानूनी—दो शब्दों के बीच नन्दा हैरान खड़ी रहती—कभी इस शब्द के मुँह की तरफ़ देखती, कभी उस शब्द के मुँह की तरफ—दोनों शब्द खामोश थे, पर भयानक···

और नन्दा—हारी हुई सी—किसी तीसरे शब्द को खोजने लगती, पर वह मिलता नहीं था···

दोनों शब्द—धीरे-धीरे, नन्दा के मन में पड़े हुए, दीवारों की तरह बढ़ने लगे। एक दीवार नन्दा की पीठ की तरफ और एक दीवार मुँह की तरफ़। उसे न तो कुछ पीछे की तरफ दिखाई देता—न आगे की तरफ़। वह दोनों दीवारों के बीच जैसे चिनी जा रही थी।

इन दीवारों से छूटने के लिए—और अपने बराबर से कोई राह खोज निकालने के लिए—अचानक नन्दा ने दोपहर के समय धूप में बैठे हुए लाज बीबी का हाथ देखना शुरू कर दिया—

"बीजी, आपके सारे माउन्ट कितने सुन्दर है—उभरे हुए, ये मरकरी, सन, सैटर्न, जुपिटर, और यह लूना का माउन्ट भी, और यह वीनस का भी।

लाज बीबी हँसते हुए बोलीं, "ज्योतिषी जी महाराज, अच्छा बताओ, मेरी उमर कितनी है ?" और साथ ही लाज बीबी ने एक हिन्दुस्तानी औरत की क़दीमी चाह से कहा, "मैं तेरे पापा के हाथों

में चली जाऊँ—बस और मुझे कोई फ़िक्र नहीं···"

नन्दा उन्हें उम्र की लकीर दिखाते हुए बोली, "बड़ी लम्बी उम्र है—आप पोतों के ब्याह भी देखेंगी···"

लाज बीबी फिर हँस पड़ी, "बस तेरा ब्याह देख लूँ, बेटे पोतों के ब्याह होते रहेंगे···"

नन्दा ने लाज बीबी की हथेली को किनारों की तरफ़ से देखा "यह तीन गहरी लकीरें तीन लड़कों की—ऊपर वाली रवि की, उसके नीचे अशोक की और उसके नीचे परम की, पर यों और तो यहाँ लकीर ही कोई नहीं है—मेरी लकीर कहाँ गई ?"

लाज बीबी ने हल्के हाथ से नंदा के सिर पर एक चपत मारी "ज्योतिषी जी को यह भी नहीं पता कि हाथों पर सिर्फ़ लड़कों की लकीरें होती हैं, लड़कियों की लकीरें नहीं होतीं।"

नन्दा का मुँह सचमुच छोटा-सा हो गया। एक अजीब सवाल मन मे आया—तो ईश्वर की नज़र मे भी लड़कियों की कोई गिनती नहीं होती···यह जैसी हुई वैसी न हुई।

पर साथ ही नन्दा के मन मे आया—शायद लाज बीबी ने यह बात उसके शक को टालने के लिए कही हो—और नन्दा ने लाज बीबी से पूछा "बीजी, आपने रवि की या किसी की कभी जन्मपत्री बनवाई थी ?" वह इस बात को अपनी जन्मपत्री पर ले आना चाहती थी, पर उसने सबसे पहले रवि का नाम लिया।

"तेरे पापा इन बातों को नहीं मानते। मेरा जी करता था कि बनवाऊँ, पर तेरे पापा से चोरी मैं कुछ नहीं कर सकती।" लाज बीबी का जवाब सीधा था, सच्चा था। नन्दा और कुछ न पूछ सकी।

लेकिन एक अँधेरा था जो दिन के समय भी फैला रहता था।

रवि डाक्टर बन चुका था, पापा के साथ ही क्लिनिक चला जाता था। अशोक अभी डाक्टरी पढ रहा था, वह भी छुट्टी वाले दिन के सिवा कभी घर नहीं होता था। सिर्फ़ परम था जो एम० ए० के बाद एक थीसिस लिख रहा था, कभी सारा दिन लाइब्रेरी मे गुजारता था, कभी सारा दिन घर अपने कमरे में। वैसे भी परम को पढाई के अलावा पेंटिंग का शौक था—कभी-कभी वह अपने कमरे को बंद करके सारा दिन सिर्फ़ पेन्ट करता था। पापा को या रवि और अशोक को न लिटरेचर मे दिलचस्पी थी, न पेंटिंग में, इसलिए परम ने कभी किसी को कुछ नहीं दिखाया था। वह घर के बाहर जाता तो अपना

कमरा बन्द करके चाभी अपने साथ ले जाता था। या कभी नन्दा उसके कमरे को साफ़ करने के लिए उससे चाभी ले लेती थी। उसके कमरे मे नन्दा के सिवा कोई नहीं जाता था।

आज भी उसके कमरे की चाभी नन्दा के पास थी। परम कमरे में नहीं था, पर उसकी किताबें थी, उसकी पेंटिंग थीं, और नन्दा जैसे पहले कभी किताबों में घण्टों के लिए गुम हो जाती थी, उसी तरह कुछ देर फिर आज उन्हीं में गुम होने के लिए पिछले बगीचे में से साज बीबी के पास से उठकर ऊपर की मंजिल पर परम के कमरे में चली गई।

सामने दीवार के साथ परम की एक नई पेंटिंग पड़ी हुई थी। नन्दा को सफ़ेद दीवार के साथ लगे कैनवस पर एक इतने गहरे रंग का एहसास हुआ, पर उसके पास आकर उसे लगा कि कैनवस पर सिर्फ़ काला सा रंग किया हुआ था, और कुछ नही था।

नन्दा कितनी देर तक उसकी तरफ़ देखती रही, पर कुछ पकड़ में नहीं आ रहा था। इसलिए वह परम की अलमारी में से उसकी किताबों को टटोलने लगी। किताबो मे से कोई किताब अभी चुनी नहीं थी कि नन्दा की पीठ की तरफ़ से परम की आवाज़ आई—"चोर!"

नन्दा ने आवाज़ पहचानी पर पीछे देखा नहीं, उसी तरह अलमारी की तरफ देखते हुए बोली "चोर नही, प्रोमेथियस।"

परम ने पास आकर आज खरीदी हुई एक नई किताब दोनों हाथों पर रखकर नन्दा के सामने की—"लो प्रोमेथियस जी, वह सब किताबें आपकी पढ़ी हुई है—यह नई किताब पढ़ लीजिए…कहते हैं प्रोमेथियस ने देवताओं की आग चुराई थी—उसने जरूर नन्दा की तरह किताबों में से नॉलेज चुराया होगा।"

नन्दा परम के हाथ से नई किताब लेकर जैसे एक घड़ी के लिए अपने दोनों तरफ़ खड़ी हुई दीवारों के बीच से बाहर आ गई हो—और उसके मन में उसकी घुटती हुई साँस एक घड़ी के लिए बहुत सहज हो गई हो…

नन्दा का ध्यान उस काली-सी कैनवस की तरफ़ गया "अरे परम, तूने यह नई पेंटिंग शुरू की है?"

परम हँस दिया "खुदा मुझपर रहम करे और नन्दा जैसे आर्ट लवर्ज़ से बचाए।"

"क्या मतलब" नन्दा हैरान उस काली-सी कैनवस की तरफ़ देखने लगी।

"देवी जी" परम उस कैनवस के पास बिछी हुई चटाई पर बैठ गया और बड़े अफ़सोस से भरे हुए मुँह से कहने लगा—"ये पेंटिंग मैंने शुरू नहीं की—ये खत्म हो चुकी है।"

नन्दा घुटनों के बल उस कैनवस के पास चटाई पर बैठते हुए बोली, "अब मुझे आँखों में कोई जादू का सुरमा डालना पड़ेगा जिससे मुझे इसमें कुछ दिखाई दे। मुझे तो काले से रंग के सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता।"

"प्रोमेथियस जी! अगर आपसे समझ की आग नहीं चुराई जा सकती तो फिर साधारण चोर ही बनी रहिए—व्यर्थ में प्रोमेथियस का नाम क्यों खराब करती हैं"—परम हँसने लगा।

"या ख़ुदा!" नन्दा ने माथे पर अपना हाथ मारा और हँसने लगी "लिखे मूसा, पढ़े ख़ुदा।"

"तो तुमने पेंटिंग समझ ली है?" परम का मुँह गम्भीर-सा हो गया।

"नहीं कुछ नहीं समझी।"

"अभी तुमने क्या कहा था?"

"हार के कहा था—या ख़ुदा!"

"यह मैंने उसे ही पेंट किया है—ख़ुदा को।"

"ख़ुदा को?—कहाँ?" नन्दा की आँखें कैनवस के काले रंग में जैसे भटकने लगीं। उसको यह भी खयाल आया कि परम शायद उसका मज़ाक उड़ा रहा हो, पर पहले कभी उसने परम को हँसी की रौ में नहीं देखा था।

नन्दा आधी गम्भीर-सी कैनवस के काले रंग को टटोलती हुई कहने लगी "कोनों में रंग बहुत काला है और बीच में एक गोल-सा दायरा है जिसका रंग बहुत काला नहीं है—बस मुझे तो इसके सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता।"

"और यह जो दिखाई देता है वह काफी नहीं?" परम का मुँह सचमुच गम्भीर था "मैंने यही ख़ुदा का आकार बनाया है। गहरे अँधेरे में हल्के अँधेरे का एक टुकड़ा। वह भी अगर कोई देखना चाहे तब..."

नन्दा, हैरान, परम के मुँह की तरफ़ देखने लगी।

परम कह रहा था, "हमारा अपना विचार पूर्ण अँधेरे में से अँधेरे के एक टुकड़े अलग करके देखा करता है। उसको अपना कहता है, शायद इसलिए कि वह गहरे अँधेरे मे गुम होना नहीं चाहता। मैं इसी को इंसान के तसव्वुर का खुदा कहना चाहता हूँ।"

नन्दा नहीं चाहती थी पर उसकी आँखें आँसुओं से भर गईं···

वह राह जो दूर तक देखने वाली आँखों को नज़र नहीं आती थी, नन्दा को लगा वह आँसुओं से भरी आँखों को कुछ दिखाई दे रही है।

वह अँधेरा जो पीछे दूर बाईस बरस तक फैला हुआ था, और जिसमें न किसी माँ का मुँह दिखाई देता था, न किसी पिता का—उसी अँधेरे मे ही शायद अँधेरे का एक टुकड़ा वह था जिसे खुदा कहा जा सकता था—एक पाक-ख़याल—जो न यतीम था, न गैरकानूनी ···और नन्दा का मन अपने ही ख़यालों से हुलस गया—जैसे किसी फूल की बन्द पंखुड़ियाँ खिल गई हों···

यह राह उसे परम ने दिखाई थी। नन्दा ने एक बार परम के मुँह की तरफ़ देखा, फिर उसकी पेंटिंग के उस हल्के काले दायरे की ओर जिसे परम ने खुदा का नाम दिया था, और उसका मन भर आया—"परम! इस गोल काले दायरे में तेरे नक्श-उभर रहे हैं—देख!"

"प्रोमेथियस!" परम ने नन्दा के कंधे पर एक हल्की-सी थपेड़ दी "अब तुम चोर से सचमुच की प्रोमेथियस न बनती जाओ।"

परम ने आज भले ही उसे यह राह दिखाई थी, पर फिर भी नन्दा उससे अपने भेद की बात नहीं कर सकती थी। उसने सिर्फ़ हँस कर इतना ही कहा "क्या मालूम रोज कोई किताब, कोई पन्ना कोई पंक्ति, या कोई विचार चुराते-चुराते किसी दिन सचमुच की प्रोमेथियस ही बन जाऊँ।"

४

डॉक्टर मदान की दो मंज़िली कोठी की पहली मंज़िल घर के तीनों जवान लड़कों के लिए थी, निचली मंज़िल के पिछले हिस्से में बगीचे से लगे हुए दो सोने के कमरे थे—एक डॉक्टर मदान और लाज बीबी का, दूसरा नन्दा का, और अगले हिस्से में बड़ा ड्राइंग-

रूम सारे घर के लिए था, जिसके साथ लगा हुआ एक कमरा डॉ० मदान का निजी कमरा था। यह कमरा उनकी लाइब्रेरी भी था, और कभी-कभी खास मरीज़ों को देखने का कमरा भी। घर का टेलीफ़ोन इसी कमरे मे था। डॉ० मदान जब अपने क्लिनिक चले जाते थे तब उनके लिए गाहे बगाहे आने वाला टेलीफ़ोन नन्दा सुनती थी। उनकी डाक भी नन्दा सम्भालती थी।

आज की डाक—जब नन्दा संभालकर एक ट्रे में रख रही थी, एक खत के कोने पर मिस्टर जे०सी० पुरी के पिता मिस्टर एल० सी० पुरी का नाम देखकर उसका हाथ कांप गया—ऐसे जैसे एक बहुत बड़ा भेद उसके हाथ मे हो।

भेद के गिर्द सिर्फ कागज का टुकड़ा था···

नन्दा का रोम-रोम उसके दिल की तरह धड़कने लगा—"जो किसी से पूछ नही सकती थी, वही भेद···जिसके लिए मेरी उमर के बाईस बरस भटक रहे हैं···वही भेद···" उसकी सांस, उसे लगा, उसकी छाती मे रुकती, अटकती जाती थी।

अचानक वह खत उसके हाथ से ऐसे छटक गया जैसे एक तेज़ डंक नन्दा की हथेली मे लगा हो···

"सहम का डंक" नन्दा ने खुद यह दलील खोजी और अपने-आपको दी—"मैं असलियत को जानना चाहती थी, जानने के लिए तड़प रही थी—लेकिन अब जानने से घबरा रही हूं।"

पापा की मेज पर पानी का एक गिलास हमेशा ढका हुआ रखा रहता था। नन्दा हाथ से गिरे हुए खत की तरफ देखती रही पर हाथ से उस खत को उठा लेने की उसमे हिम्मत नही थी, उसने खत की जगह हाथ से पानी के उस गिलास को उठाया और उसके ऊपर का ढक्कन उतार कर कुछ घूंट पानी पिया।

वह सामने गिरे हुए खत की तरफ़ देख रही थी—और मेज़ पर गिलास मे से ढुलकता हुआ पानी उसके कांपते हुए हाथ की तरफ देख रहा था···

"अच्छा होता जो कुछ न जानती···" नन्दा के शरीर का कंपन उसके माथे में इकट्ठा हो गया—"पर जो थोड़ा जान लिया वह बहुत दर्दनाक है···अब सारा—सब कुछ, जानना होगा···" और नन्दा ने एक बेबसी की सी हालत मे उस गिरे हुए खत को उठाकर अपनी मुन्नी में छिपा लिया।

वह अपने कमरे में चली गई, दरवाजा भी अन्दर से बन्द कर लिया, लेकिन खत अभी उसी तरह बन्द का बन्द उसके हाथ में था।

"सारा भेद सिर्फ एक पतले से कागज के पीछे छिपा हुआ···" जो कुछ बाईस बरस दूर था वह अचानक सरककर अपने आप उसके पास आकर खड़ा हो गया था। और नन्दा इस अचानक आए हुए भेद से डर रही थी।

"पुरी के हाथ रिश्ते की बात कबकी खतम हो चुकी थी—फिर यह खत क्यों आया?···इसमें शायद उस भेद की बात होगी···जरूर होगी।" नन्दा खुद उस भेद को झुठलाती और खुद मानती हुई कितनी देर वैसी की वैसी खड़ी रही।

और फिर जो एक खयाल नन्दा को पहले नहीं आया था वह भी आया—"पापा के नाम आया खत मैं चोरी से पढ़ूँगी?"

नन्दा की याद में यह उसकी पहली चोरी थी और उसके पापा से माफी-सी माँगते हुए हाथ, आहिस्ता से गोंद वाली जगह से लिफ़ाफ़े को खोलने लगे···

वह उस लिफ़ाफ़े को फाड़ कर नहीं खोलना चाहती थी लेकिन वह गोंद वाली जगह से खुलता हुआ नहीं लगता था। मन में आया —"फाड़ के खोल लूँ। फिर बन्द नहीं कर सकूँगी। पर खत को फाड़ कर फेंक सकूँगी। अगर कभी इस खत का जिक्र किसी और खत में आया भी, तो पापा को यही खयाल आएगा कि वह खत डाक में गुम हो गया होगा···"—पर पतली काँपती हुई उंगलियों ने धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके लिफ़ाफ़े को खोल लिया था···

खुले हुए लिफाफे में से तह किये हुए क़ाग़ज को निकालने के लिए नन्दा ने जब दो उँगलियाँ लिफाफे के अन्दर डालीं उसके रोम-रोम में से खौफ़ की एक लहर इस तरह दौड़ गई जैसे कोई साँप के बिल में हाथ डालने लगा हो।

तह किये हुए कागज को खोलते समय नन्दा की साँस इस तरह चढ़ी हुई थी जैसे वह एक ही साँस में उम्र के बाईस बरस चलकर आई हो···

खत का मजमून था "मुझे अफसोस है कि मैंने नन्दा बेटी को घर की बहू बनाने से इनकार किया था। अब जो असलियत आपने एक लम्बी खामोशी के बाद बताई है वह मुझे ठीक मालूम होती है। अगर वह ठीक न होती तो आप किसी पराये खून के लिए इस तरह

अपनी जायदाद का हिस्सा उसके नाम नहीं कर सकते थे। मुझे अपने लड़के के लिए यह रिश्ता मंजूर है।"

नन्दा ने खत को जितनी बार पढ़ा लगा भेद और गहरा हो गया है। कुछ था जो पापा ने लम्बी खामोशी के बाद उन लोगों को बताया था, वह जो कुछ भी था स्वाभाविक रिश्ते से अलग जरूर था।

वह क्या है?—यह इस खत से नहीं जाना जा सकता था, पर जो जाना जा सकता था वह नन्दा ने पक्की तरह जान लिया कि पुरी साहब जो इस विवाह के लिए रजामन्द हो गए हैं तो वह जायदाद के उस हिस्से की खातिर हो गए हैं जो पापा ने उनको देने का उन लोगों के साथ इकरार किया लगता है···

भेद जो भी हो—इस घड़ी नन्दा ने उसके विचार को परे करके अपने मन में एक फ़ैसला कर लिया कि अब कुछ भी हो वह यह विवाह नहीं करेगी।

५

नन्दा ने पुरी का वह खत हल्का-सा गोंद लगाकर फिर उसी तरह बन्द कर दिया और उसी ट्रे में रख दिया जिसमें पापा की और डाक रखी हुई थी।

नन्दा को वह भेद नहीं मिला जिसके लिए उसने जिन्दगी की पहली चोरी की थी—पापा से चोरी; पापा का खत खोल दिया था—पर आज उसका मन बहुत दिनों बाद उस घास की तरह भुलसा हुआ था, जिस पर बादलों की तरह छाये हुए पेड़ों की छटनी की गई हो—और उस घास के बदन ने सूरज की धूप सेकी हो।

नन्दा को अपने मन के हुलास का कारण मालूम था—यह उसका वह फ़ैसला था जो अब किसी पुरी की हाँ या ना से स्वतन्त्र था। उसने रात का खाना बनाने में लाज बीबी की पहले से भी ज्यादा मदद की—और थोड़ी-थोड़ी देर बाद घड़ी देखी—पापा के आने का इन्तजार किया—वह इस खत को पढ़ चुकने के बाद पापा के मुँह का बदलता हुआ रंग देखना चाहती थी···

पापा आए, चाय का प्याला पिया और रोज की तरह दिन की डाक पढ़ने के लिए अपने अपने कमरे में चले गए।

कुछ देर तक नन्दा के कानों में अत-की खामोशी छाई रही। न पापा कमरे से बाहर आए, न नन्दा उनके मुंह का बदलता हुआ रंग देख सकी। फिर उनकी आवाज आई—"नन्दा, माँ को जरा इधर भेज दो।"

नन्दा ने देखा—लाज जब उनके कमरे में गई तो कमरे का खुला हुआ दरवाजा भीतर से भेड़ दिया गया। नन्दा अनुमान लगा रही थी—कि पापा उस खुशी की बात सबसे पहले लाज बीबी से कर रहे थे जो उन्होंने आज बड़े महँगे दामों खरीदी थी…

काफी देर बाद दरवाजा खुला। लाज बीबी बाहर आई। नन्दा उनके चेहरे की तरफ़ किसी उत्साह से नहीं देखना चाहती थी, वह इतना पूछ सकी—"बो जी, फ्रीजर में कीमा पड़ा हुआ है कबाब बना दूँ?"

लाज बीबी भीगी हुई आँखों से मुस्करा रही थी। उन्होंने धीरे-से हाँ में सिर हिला दिया, और फिर, मन में आया हुआ उबाल जैसे अकेले उनके मन से झेला न गया हो, कहा—"बना लो, तुम्हारे पापा को अच्छे लगते हैं…तुम्हारे पापा…" लाज बीबी की आवाज में एक उदास-सी खुशी थी "मैंने किसी भगवान् को तो देखा नहीं, पर वह जरूर तेरे पापा जैसा होगा।"

अब नन्दा के पास लाज बीबी के मुँह की तरफ़ देखने का, और देखे जाने का, एक स्वाभाविक अवसर था, सो वह मुँह की तरफ देखती रही। लाज बीबी का मुँह खुश भी था, और संजीदा भी, शायद कुछ उदास भी…

नन्दा खुशी में मिली हुई उदासी को पहचान रही थी—शायद इसलिए कि वह खत को पढ़ चुकी थी—नहीं तो शायद वह खुशी और उदासी के इस मेल को पहचान न पाती…

अब कुछ पूछ सकना भी स्वाभाविक था, पर नन्दा को कुछ सूझ नहीं रहा था। लाज बीबी ने स्वयं ही उसकी कुछ पूछती-सी नजरों को समझ लिया, और हथेली से उसके गाल को दुलार कर कहा, "अभी तू छोटी है, अभी दुनिया की सब बातें तेरी समझ में नहीं आ सकतीं—शायद मैं तुझे कभी खुद ही बता दूँगी—जब तू बहुत बड़ी हो जाएगी…"

और नन्दा अनजान उम्र के इलजाम को कबूल कर वक्त के सवाल से जैसे छूट-सी गई।

आज रात खाने की मेज पर ज्यादा रौनक थी, जैसे कमरे में एक बत्ती की जगह आज कई बत्तियाँ जल रही हों…

पापा का मुँह जरा खिला हुआ था। वह बच्चों की छोटी-छोटी चुहल में भी शामिल हो रहे थे। आज उन्होंने मटर के पुलाव की खास तौर से तारीफ की "ऐसा पुलाव बस तुम्हारी माँ ही बना सकती है।" उन्होंने बारी-बारी सब बच्चों से कहा और जब लाज बीबी ने बताया कि आज कबाब नन्दा ने अकेले बनाए हैं तो उन्होंने आवाज में बड़ी उदासी भर कर कहा "इसका मतलब है कि अब मुझे ऐसे कबाब कभी नसीब नहीं होंगे, मुझे जब कबाब खाने होंगे तो पुरी के घर जाना पड़ेगा…"

लाज बीबी हँस पड़ी, पर बड़े लड़के ने कुछ हैरान होकर कहा "अब फिर यह साला पुरी कहाँ से आ गया, मैंने तो आपके कहने से कैनेडा वाले कमलेश को खत लिख दिया है।"

आज नन्दा का मन बुझा हुआ नहीं था, पर वह चुप थी, केवल एक दर्शक-सी सबकी ओर देख रही थी…

रवि से छोटा अशोक रवि से कह रहा था "तुम पुरी को साला कह रहे हो पर वह तो तुम्हे और मुझे साला बनाने वाला है।"

पापा गम्भीर-से, रवि से कह रहे थे "मैंने पता किया है, पुरी बुरा आदमी नहीं, ठीक ही है…"

नन्दा को मालूम था—पापा झूठ बोल रहे हैं, उन्होंने न तो कभी पुरी के बारे में कोई बुरी बात सुनी थी और न ही अब कोई अच्छी। पहली बात उन्होंने पुरी के 'नहीं' कहने के कारण कही थी और आज दूसरी बात पुरी के 'हाँ' करने के कारण। और नन्दा को लगा—पापा का यह झूठ भी, शायद उसकी आज की पहली चोरी की तरह जिन्दगी का पहला झूठ था…

नन्दा में अचानक एक साहस-सा आ गया। उसने पापा की तरफ देखा—एक मासूम चोरी मानो एक मासूम झूठ की तरफ देख रही हो—और दोनों की मासूमियत ने मिलकर नन्दा को कुछ कहने का बल दे दिया—वह बोली "पापा आप मेरी मर्जी तो पूछना ही भूल गए…"

पापा कुछ हैरान-से नन्दा की तरफ देखने लगे। फिर हँस पड़े—"जिस दिन पुरी को बुलाया था, तुम्हें दिखा दिया था, तुमने उस दिन कुछ नहीं कहा मैं समझा तुम्हें पसन्द होगा…"

"उस बात को तो कितने महीने हो गए—तब तो मैं छोटी थी…" नन्दा को यही जवाब सूझा, उसने कह दिया।

रवि, अशोक और परम हँसते-हँसते दुहरे हो गए "हमें नहीं मालूम था कि नन्दा एक महीने में एक बरस बड़ी हो जाती है…"

नन्दा के मन में एक बादल-जैसा घिर आया—"किसी को क्या मालूम मैं एक ही रात में कितने बरस बड़ी हो गई…" पर वह बादल की छांह में कांपती हुई-सी कहने लगी, "पापा ! पुरी या किसी और से भी मैं ब्याह नहीं करूँगी, आप मुझे एम० ए० करने दीजिए !"

और नन्दा ने रवि और अशोक को छोड़ कर, सिर्फ़ परम की तरफ देखा। उसे परम के चुप, संजीदा स्वभाव से एक विश्वास-सा आया कि वह शायद उसकी हामी भरेगा। रवि और अशोक हमेशा बहस में पड़ जाया करते थे, पर परम दूसरे की मर्जी में कभी दख़ल नहीं देता था।

परम ने शायद नन्दा की आवश्यकता को समझ लिया, रवि और अशोक के बोलने से पहले ही उसने कहा, "अब मैं मान गया कि नन्दा सचमुच बड़ी हो गई है—यह उसने जिन्दगी में पहली अकल की बात की है…"

"पहली अकल की बात" चाहे नन्दा पर इल्ज़ाम जैसी बात थी कि इससे पहले उसने कभी अकल की बात नहीं की थी पर नन्दा को यह इल्ज़ाम कबूल करके भी परम के बोलने की खुशी थी—उसने आँखों में एक धन्यवाद-सा भर कर परम की तरफ़ देखा।

रवि चुप था। इस कारण नहीं कि वह नन्दा की मर्जी से सहमत था—वह सिर्फ यह सोच रहा था कि अगर इस समय नन्दा के कहने से पुरी वाली बात टल जाए तो वह कभी बाद में कैनेडा वाले डॉक्टर की बात छेड़ सकेगा। और अशोक रवि को चुप देखकर चुप था।

पापा कुछ हैरान-से लाज बीबी की तरफ देखने लगे।

लिख दिया, "लड़की अभी और पढ़ना चाहती है इसलिए अभी मैं उसके विवाह का विचार नहीं कर रहा हूँ।"

कैनेडा से रवि के खत का जवाब भी आ गया था। रवि ने अपने खत में उसे नन्दा के बारे में कुछ नहीं बताया था, सिर्फ यही पूछा था कि उसने अभी अपने लिए कहीं कोई सम्बन्ध पक्का कर लिया या नहीं, और जवाब सिर्फ यही आया था "अभी नहीं"—और रवि ने वह खत पापा को दिखा दिया था, पर पापा ने उस खत के बारे में भी फिर कभी कोई बात नहीं छेड़ी थी।

सो—सब-कुछ उसी तरह था जैसे कि पहले, सिर्फ़ नन्दा एक साल खाली रहने के बाद अब रोज यूनिवर्सिटी जाने लगी थी।

एक दिन यूनिवर्सिटी से लौटने के समय नन्दा को चपरासी के हाथ एक सन्देशा मिला कि कोई उससे मिलने के लिए आया है और बाहर गेट पर उसका इन्तजार कर रहा है।

नन्दा गेट पर पहुँची तो वहाँ जे० सी० पुरी उसका इन्तजार कर रहा था। कई महीने पहले उसने नन्दा को सिर्फ एक बार देखा था जब डॉक्टर मदान ने उसे घर बुलाया था, पर पहचानने के लिए वही काफी थी—पुरी ने आगे बढ़कर नन्दा से हलीमी से कहा—"नन्दा अगर तुम्हारे पास कोई दस मिनट खाली हों···"

"कहिये" नन्दा के मुँह से केवल इतना निकला। वह शायद कभी भी इस तरह की मुलाकात के लिए तैयार नहीं थी, इसलिए जरूरत से ज्यादा हैरान थी।

"मैंने बाहर सड़क पर कार खड़ी की हुई है, ले आऊँ ?"

"मैं बाहर कहीं नहीं जाऊँगी···"

"सिर्फ़ दस-पन्द्रह मिनट···"

"पर आप···आपको जो बात करनी हो वह पापा से···"

पुरीने नन्दा के अधूरे वाक्य को समझा और कहा—"जो करता था सिर्फ़ तुम्हारे साथ एक बार अकेले में बात करूँगा···डॉक्टर मदान को शायद मेरे बारे में कोई गलतफहमी हो गई है···सिर्फ दस मिनट···"

नन्दा को वह समय याद आया, जब बड़े पुरी साहब के खत को उसने इसलिए चोरी से पढ़ा था कि उस खत में शायद उसे वह भेद मिल जाए जिसका अता-पता कहीं से भी पकड़ में नहीं आ रहा था··· शायद इस पुरी की बात में से···नन्दा यह सोचती हुई पुरी के साथ

बाहर की दीवार तक चली गई···

"अच्छा, कहिये···" नन्दा दीवार से लगकर लॉन के एक सिरे पर खड़ी हो गई।

"यहाँ ? बाहर सड़क पर मेरी कार खड़ी हुई है···यहाँ से थोड़ी-सी दूर जाकर···"

"नहीं···"

पुरी को वहीं दीवार के पास खड़े होना पड़ा। दूर परे यूनिवर्सिटी के बहुत-से लड़के थे, लड़कियाँ थीं, पर बहुत पास कोई नहीं था, पुरी ने एक दो बार इधर-उधर देखा, फिर कहा, "मेरे पिताजी ने हमारे ब्याह के लिए एक बार इन्कार कर दिया था···"

"मुझे मालूम है" नन्दा ने ऐसा निश्चित जवाब दिया मानो वह सब-कुछ जानती हो।

पुरी से बात करने से पहले नन्दा ने मन में यह ज़रूर सोच लिया था कि वह किसी बात से हैरानी प्रकट नहीं होने देगी—जो कुछ भी सुनेगी, ऐसे सुनेगी मानो उसे पहले से सब-कुछ पता हो।

"उसका मुझे बड़ा अफ़सोस है···" पुरी ने कहा, पर उसे लगा जैसे यह कहना काफ़ी नहीं था, क्योंकि नन्दा के चेहरे पर इसका कोई असर नहीं दिखाई देता था। उसने नन्दा का ध्यान जीतने के लिए फिर कहा, "पुराने लोगों को ख़ानदान को लेकर कुछ वहम हुआ करते हैं···पर मेरी नज़र में इससे कोई फ़रक नहीं पड़ता कि नन्दा डॉक्टर मदान की अपनी लड़की है या नहीं—मुझे नन्दा चाहिए···" और पुरी अपने वाक्य पर स्वयं ही ख़ुश-सा होकर नन्दा की तरफ़ देखने लगा।

"फिर ?" नन्दा ने अपने साथ किया हुआ इकरार पूरा किया। वह कुछ हँस-सी दी, मानो वह इस सब-कुछ की ओर से उदासी न हो।

"उस समय मैं कुछ नहीं कर सकता था—मेरे पिता का हुक्म था"—पुरी के हाथ से शायद उसकी बात का बल छूटा जा रहा था, उसका स्वर कुछ दुर्बल-सा हो गया।

"फिर ?" नन्दा ने मानो उसके स्वर को कुछ सहारा देने के लिए कहा हो।

"फिर जब डॉक्टर साहब ने असली भेद बता दिया···"

नन्दा का दिल इतने ज़ोर से धड़का कि [illegible]



जान लेने का समय आ गया है ?"···नन्दा ने अपनी पीठ को दीवार का सहारा देकर—एक बार अपनी आँखें इस तरह मूंद लीं—मानो वह भेद बहुत भयानक हो—और उसे आँखों से देख सकना बहुत कठिन हो···

नन्दा को लग रहा था—कि उसका अपने साथ किया हुआ इकरार इस समय टूट रहा है—पर टूटते हुए इकरार को थामे रखने के लिए भी उसको पीड़ा के एक पल की आवश्यकता थी, और वह उस समय पीड़ा के उसी पल से गुजर रही थी···

पुरी ने नन्दा के चेहरे पर पीड़ा की परछाईं देखी, पर उसका अर्थ कुछ और ही निकाला समझा, इसलिए उससे अपनी सहानुभूति जोड़ते हुए बोला, "मैं जानता हूँ नन्दा ! डॉक्टर साहब तुम्हारी माँ को अपने घर लाकर वह रुतबा नहीं दे सके जो एक बेटी की माँ को मिलना चाहिए था—पर अब हम समझदार हैं, उनकी सामाजिक मजबूरियों को समझ सकते हैं—वह विवाहित थे—उनके तीन लड़के थे—यह भी उन्होंने बड़ी हिम्मत का काम किया कि बेटी को अपने घर ले आए···" और पुरी ने नन्दा की मुंदी हुई, काँपती पलकों की तरफ़ देखकर फिर अपनी सहानुभूति को उससे जोड़ा, "मैं तुम्हारे दुःख को समझ सकता हूँ, नन्दा । तुम्हें अपना पिता तो मिल गया, पर माँ हमेशा के लिए बिछड़ गई···मैं···मेरा मतलब है, अगर तुम मेरे साथ शादी कर लो तो मैं कोशिश करूँगा कि मैं तुम्हें तुम्हारी माँ से मिला दिया करूँ···तुम्हें उनका पता होगा···वह कहाँ रहती हैं···"

नन्दा अत्यन्त पीड़ा के पल से गुजर कर शायद कुछ घड़ी के लिए मसीह हो गई थी । उसने कुछ मुस्कराकर आँखें खोलीं । पुरी की तरफ़ देखा, वह भेद जो अभी पाया था मन में लपेट लिया, और हँस कर बोली, "मेहरबानी, पर मैं अभी कई बरस पढ़ूँगी—मैं अभी किसी से भी ब्याह नहीं कर सकती···" और नन्दा गेट के बाहर खड़ी हुई यूनिवर्सिटी की बस में जाकर बैठ गई ।

७

बस में अनेक लड़कियों की आवाजें थीं—और बस के पैरों के नीचे शहर की अनेक सड़कें थीं—पर नन्दा कोई आवाज पहचान

नहीं पा रही थी—न कोई सड़क···

कानों में पुरी के कहे हुए शब्द थे—"डॉक्टर साहब तुम्हारी माँ को अपने घर लाकर वह रुतबा नहीं दे सके···सामाजिक मजबूरियाँ थीं···वह विवाहित थे···"—और नन्दा की आँखों के आगे एक वह सड़क घूमने लगी जो शायद इस शहर की नहीं थी—न जाने किस शहर या किस गाँव की थी—पर वह जो वहाँ जाती थी जहाँ कहीं उसकी माँ रहती थी···

बस जब नन्दा के घर के सामने रुकी—नन्दा के ध्यान में न सामने वाली सड़क थी, न सामने वाला घर। ड्राइवर के जोर से कहने पर—"नन्दा बीबी, आपका घर आ गया, उतरेंगी नहीं ?" नन्दा को जैसे होश आया।

माथे में विचारों का कसाव था—नन्दा को घर पहुँचकर सचमुच हल्का-सा बुखार हो गया था। लाज बीबी ने उसके मुँह की तरफ देखकर ही बुखार का अन्दाज़ा लगा लिया था—फिर हाथ और माथा छू कर देखा—थर्मामीटर लगाया तो सौ के क़रीब था।

लाज बीबी ने चाय बना कर दी, नन्दा ने पी ली, पर दवाई नहीं खाई। अपने कमरे में अपने दीवान पर औंधे मुँह, एक चादर की ओट में पुरी की बताई हुई बात को फिर से अक्षर-अक्षर देखती—अपनी माँ की सूरत की कल्पना करने लगी।

आज कई महीनों के बाद पहला दिन था—पहली घड़ी—जब नन्दा को पापा से अपनत्व भी हो आया और कुछ शिकवा भी—

उसने एक पल के लिए लाज बीबी की जगह उस औरत का चेहरा कल्पना करके देखा जिसे उसने कभी देखा नहीं था। वह मुँह, पानी की लकीर की तरह दिखाई देता और मिट जाता था—नन्दा ने हार कर शीशे में अपनी सूरत देखी—और फिर अपनी सूरत में कई काल्पनिक बरस मिलाकर—मुँह के पके हुए मास को देखना चाहा—पर साथ ही उसे खयाल आया—"जरूरी नहीं मैंने माँ के नक्श लिए हों—पापा के भी हो सकते हैं—या दोनों के कहीं मिले हुए···कहीं अलग···" और नन्दा को ख्याल आया—"मैं उस बदनसीब माँ को कभी एक घड़ी भी नहीं देख सकूँगी ?"

और फिर अचानक उसे लगा जैसे उसकी जगह छीनकर लाज बीबी ने ले ली हो···

पर नन्दा को हमेशा बात में दलील का सिरा पकड़ने की आदत

थी, उसी आदत से नन्दा ने अपने विचार को दलील से झुठला दिया—"लाज बीबी के घर तीन लड़के थे जब मेरा जन्म हुआ—यह तो उसका क़सूर था कि उसने खामखाह लाज बीबी की जगह छीननी चाही थी—नहीं छीन सकी, उसकी किस्मत—छीन लेती, उसका क़सूर होता···"

साथ ही उसे लाज बीबी के साथ सहानुभूति हो आई—"लाज बीबी ने मुझे कैसे अपनाया होगा ? अपने पति का गुनाह कैसे अपनी गोदी मे डाला होगा ? और शायद अपने पति को कभी कोई उलाहना भी नहीं दिया होगा···कभी उनके मुंह पर कोई बल नहीं देखा···"

और अचानक नन्दा को लाज बीबी की उस दिन की बात याद आ गई जिस दिन उसने पापा की चोरी से पुरी का खत खोल कर पढा था, और फिर उसी तरह बन्द करके पापा की डाक मे रख दिया था, और पापा ने वह खत पढ़ कर लाज बीबी को कमरे मे बुलाया था, और लाज बीबी ने कोई एक घण्टे के बाद कमरे के बाहर आ कर कहा था "कोई भगवान तो मैंने देखा नही है, पर वह जरूर तेरे पापा जैसा होगा···" उस दिन नन्दा को इस वाक्य से कुछ भी समझ में नहीं आया था, लाज बीबी ने अपने आप ही कहा था "अभी तू छोटी है, अभी दुनिया की सब बातें तेरी समझ मे नहीं आ सकती शायद मैं तुझे कभी खुद ही बता दूंगी···जब तू बहुत बड़ी हो जाएगी···"—पर आज नन्दा को लगा—जैसे वह बहुत बड़ी हो गई थी और दुनिया की सारी बातें उसकी समझ मे आ गई थीं। उसे लगा—उस दिन पापा को मेरे ब्याह की खातिर एक हकीकत पुरी को बतानी पड़ी—और लाज बीबी को उस दिन पापा इसीलिए भगवान जैसे लगे होंगे क्योंकि वह चाहे अपनी एक और औलाद को घर ले आए थे, लेकिन उनकी जगह हमेशा उसी तरह कायम रखी थी जैसी वह थी। उनकी जगह कोई और पुरुष होता···नन्दा को कई सुनी सुनाई और अखबारों में पढी हुई बातें याद आईं—तो वह अपनी नई मुहब्बत की खातिर अपनी बीवी को भी बर्बाद कर देता—और बच्चों को भी—पर पापा ने ऐसा कुछ नहीं किया, इसीलिए लाज बीबी को वह भगवान जैसे प्रतीत हुए थे···

और फिर जिस तरह नदियों के प्रवाह मुड़ जाते हैं, नन्दा के मन में लाज बीबी के लिए उमड़ी सारी सहानुभूति उस औरत की तरफ चली गई जिससे पापा ने मुहब्बत की थी, जिसने अपनी मुहब्बत की

एक निशानी को जन्म देकर उस मर्द के हवाले कर दिया जिसने कभी भी उसका अधिकार न पहचाना…

और जो ख़याल नन्दा को पहले नहीं आया था—अचानक वह भी आया "कौन जाने वह जीती न रही हो—और पापा को मन की कशमकश में से गुज़रने का वक्त ही न आया हो…"

पर साथ ही उसे अचानक पुरी की वह बात भी याद आई "अगर तुम मेरे साथ शादी कर लो तो मैं कोशिश करूँगा कि तुम्हें तुम्हारी माँ से मिला दिया करूँ…"—और नन्दा को अभी माँ के जीते न होने का विचार करके जो दुनिया में एक खालीपन महसूस हुआ था, पुरी की उस बात की याद से वह खालीपन कुछ भरता-सा लगा…

मन के बहाव को मानो कोई बाँध जिधर चाहे उधर मोड़ रहा हो—नन्दा को जब माँ के ज़िन्दा होने का एक विश्वास-सा हुआ तो साथ ही पुरी का कहा हुआ दूसरा वाक्य भी याद आया—"तुम्हें उनका पता होगा…वह कहाँ रहती हैं…" तो नन्दा को लगा कि पुरी को कुछ पता नहीं था कि मेरी माँ ज़िन्दा है या नहीं…

और नन्दा उस विश्वास की तरह उदास हो गई जो किसी भगवान के लिए एक पल बंधता है तो दूसरे पल टूट जाता है…

८

पापा से खून का रिश्ता था—इसलिए नन्दा को लगता कि अगर कोई प्यार का अधिकार था तो पापा से, अगर कोई उलाहने का अधिकार था तो पापा से।

नन्दा में एक प्रत्यक्ष दीखने वाला परिवर्तन आया। वह लाज बीबी के हुक्म की जैसे एक बांदी-सी हो गई। रवि, अशोक और परम का कहना इस तरह मानती, मानो उनका कहना मानने के लिए ही उसने जन्म लिया हो। पर पापा से छोटी-सी बात पर भी अड़ जाती—और कभी पापा के लिए इतने लाड़ में भर आती मानो वह अभी बहुत छोटी बच्ची हो, या अब इतनी बड़ी और सयानी हो चुकी है कि घर की बूढ़ी माँ के बराबर हो गई हो…

फिर नन्दा में—मानो दो नन्दा एक साथ रहने लगी हों…

घर में बहुत दिनों से रवि के सम्बन्ध में एक मशवरा हुआ करता था। रवि के लिए कोई लड़की भी देखी जाती, रवि को रुपए

आती थी और एक बार पापा के मुँह से निकला हुआ वाक्य मानो एक कहावत बन गया था "रवि को मदर फ़िक्सेशन है।"

आजकल नन्दा में जो बड़ा प्रत्यक्ष परिवर्तन आया था, उसे देखकर रवि को उस पहली कहावत का बदला लेने का अवसर मिल गया। एक दिन खाने की मेज पर बैठे हुए—नन्दा ने टमाटर में आलू भरकर जो सब्जी बनाई थी वह बहुत नहीं थी—इसलिए सबको थोड़ी-थोड़ी देकर बहुत सारी पापा की प्लेट में डाल दी—तब रवि ने कहा—"नन्दा को आजकल फादर फ़िक्सेशन हो गई है।"

पापा शायद कई दिन से महसूस कर रहे थे पर रवि ने कहने में पहल की और पापा ने सचमुच कुछ फ़िक्र के साथ नन्दा की तरफ़ देखा, पर डाक्टर थे—मौके को सम्भालते हुए कहने लगे "इस उम्र में हर लड़की को होती है। यह कोई खास बात नहीं है। और ज़रा कुछ सयानी होगी तो अपने आप ठीक हो जायेगी···"

नन्दा ने मुँह नीचा कर लिया पर उसे एक ख़याल आया—अगर मैं इस समय ज़ोर से कह दूँ—"पापा! क्या करूँ? आपका कसूर ध्यान में आता है—तो जी करता है कि छः बरस की बनकर आपकी गोद में बैठ कर रोऊँ, पर जब आप पर प्यार आता है—तो उस कसूर को माफ़ करने के लिए साठ बरस की बन जाती हूँ।"

नन्दा ने अपना नीचे का होंठ दाँतों में ले लिया। उसे लग रहा था—अगर कहीं ज़रा भी उसका विचार उसके कहे के बाहर हो गया तो कुछ-न-कुछ ज़रूर उसके मुँह से निकल जाएगा।

सिर्फ़ परम ने उसका ध्यान तोड़ा—"आज तू सिर्फ़ अपना होंठ ही खाएगी—रोटी नहीं बची?"

"हाँ, नहीं बची"—नन्दा को लगा उसे अपने ख़यालों से बाहर निकलने के लिए कोई रास्ता ज़रूर मिल गया है—हँसकर कहने लगी, "तुम अपनी प्लेट में से दे दो।"

परम ने अपनी प्लेट आगे कर दी—और नन्दा को रवि से मिले हुए उलाहने को उतारने का अवसर मिल गया, जल्दी से बोली, "ना भई, फिर रवि कहेगा, अब नन्दा को ब्रदर फ़िक्सेशन हो गई है।"

कमरा, दूधिया चाँदनी जैसी हँसी से भर गया···

९

नन्दा यूनिवर्सिटी की बाहरी दीवार के पास पहुँची ही थी कि उसने देखा कि दीवार के साथ ढासना लगा कर खड़ी हुई एक औरत ने पैसे माँगने के लिए अपना हाथ आगे किया हुआ है—

वह हाथ नन्दा की तरफ बढ़ता हुआ नन्दा की कमीज़ से छू गया···

नन्दा ने उस माँगने वाली औरत की तरफ़ खीझ-भरी आँखों से देखा—उस औरत का चेहरा उजड़ा हुआ था, बाल खुश्क और माथे पर बिखरे हुए थे, सिर पर एक लीर-सा दुपट्टा था—पर आँखों में एक अजीब-सी चमक और हसरत थी—नक्श रूखे हुए भी बुरे नहीं थे—वह हाथ को नन्दा के आगे पसार कर—एकटक नन्दा के मुँह को देखे जा रही थी···

नन्दा उकताई-सी तेज़ क़दमों से घर जाने वाली बस की तरफ़ चल दी। लेकिन बस के पायदान पर एक पाँव रखा ही था कि अचानक नन्दा को ख़याल आया—"कौन जाने यह माँगने वाली औरत ही मेरी माँ हो···"

नन्दा की आँखों के आगे अन्धेरा-सा आ गया। और उसने दूसरा पाँव पायदान पर रखने की जगह पहला भी पायदान से हटा लिया और घबराकर पीछे की तरफ़ मुड़ी, उधर यूनिवर्सिटी की दीवार की तरफ़, जिसके साथ ढासना लगा कर वह माँगने वाली औरत खड़ी हुई थी···

उसका एक हाथ, बेबस-सा, दूसरे हाथ में पकड़े हुए पर्स की तरफ़ चला गया और पर्स में हाथ डालकर जो कुछ हाथ आया—उसने मुट्ठी भर ली—और उस दीवार की तरफ देखने लगी जहाँ अभी-अभी एक हाथ उसके आगे पसरा हुआ था···

दीवार खाली थी···वहाँ कोई नहीं था···

नन्दा घबराकर इधर-उधर देखने लगी—गेट में से कालिज के कितने ही लड़के-लड़कियाँ अभी बाहर आ रहे थे। उसमें और दीवार की उस जगह के बीच कभी ओट हो जाती थी, कभी खाली दीवार दिखाई देने लग जाती थी।

नन्दा दीवार वाली सड़क के दोनों तरफ़ दूर तक कभी इधर कभी उधर देखती रही—पर दूर तक भी कहीं उस माँगने वाली औरत की

झलक तक न थी···

और फिर सारी सड़क खाली हो गई। सड़क पर अन्धेरा पड़ने लगा। घर की तरफ़ जाने वाली बस भी शायद चली गई थी—वहाँ कुछ भी नज़र नहीं आ रहा था···

नन्दा के मुँह से घबराकर एक चीख़-सी निकल गई—माँ! आँख खुल गई और इस चीख़ के साथ ही नन्दा की नींद टूट गई···

कुछ देर उसे पता नहीं लगा कि वह कहाँ है—पर धीरे-धीरे आँखों में अपने कमरे की—अपनी अल्मारी की, अपने दीवान की—और अपनी पहचान उतर आई···

अजीब सपना था—नन्दा का दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था···

और फिर नन्दा को लगा—मानो यही घटना—बिल्कुल यही घटना—पहले भी कहीं देखी, पढ़ी या सुनी थी···

नन्दा बिस्तर से उठी और सोच में पड़ी हुई-सी बाहर रसोई में चाय बनाने के लिए चली गई। लाज बीबी ने पहले ही चाय बना ली थी—और वह उसे प्यालों में डाल रही थीं।

नन्दा ने एक ट्रे में तीन प्याले—रवि, अशोक और परम के लिए—रखे, और चौथा अपने लिए रखकर ऊपर दूसरी मंज़िल पर चाय देने के लिए चली गई।

रवि और अशोक के कमरों में उनकी चाय देकर नन्दा परम का और अपना प्याला लेकर परम के कमरे में गई। परम को चाय दी और आप भी वहीं उसकी मेज़ के पास खड़े होकर चाय पीने लगी—

चाय पीते हुए उसने पूछा "परम! मैंने तुमसे लेकर एक किताब पढ़ी थी—याद नहीं उसका क्या नाम था—पर उसमें—एक माँगने वाली औरत एक लैम्प-पोस्ट के पास खड़े होकर उससे पैसे माँगती है···"

"किससे?" परम ने चाय का खाली प्याला मेज़ पर रखी हुई खाली ट्रे में रखते हुए पूछा।

"वही तो याद नहीं आता—किसकी कहानी थी···"

"फिर?"

"बस इतना याद है—वह आदमी जब माँगने वाली औरत से दूर चला गया, काफ़ी दूर, तब उसे ख़याल आया कि शायद वह माँगने वाली औरत उसकी माँ हो···"

"वह···मुझे याद है—वह ज्याँ येने की लिखी अपनी बॉयोग्रफी थी···तुम्हें याद नहीं—वह फ्रांस का मशहूर चोर था—सारी उम्र जेलों में काटी—पर इसने जब किताबें लिखनी शुरू कीं—फ्रांस के सार्त्र ने और, और कई लेखकों ने, सरकार से अपील करके इसको जेल से बरी करवा दिया था—सार्त्र ने खुद फिर इस पर किताब लिखी थी "सेंट येने।" और परम चारपाई से उठकर मेज के पास खड़ी हुई नन्दा के पास आकर खड़ा हो गया "पर आज सवेरे-सवेरे तुम्हें उसकी यह बात कैसे याद आई ?"

"वह गैर कानूनी बच्चा था न ?" नन्दा ने पूछा।

"हाँ—जब उसे होश आया उसने अपने आप को यतीमखाने में देखा। पूछने पर उसे पता चला कि उसका जन्म होते ही उसकी माँ उसे वहाँ छोड़ गई थी और फिर वहाँ कभी नहीं आई···"

"और उस माँगने वाली औरत को देखकर उसे ऐसा ही खयाल आया था कि शायद—शायद वह उसकी माँ हो ?···" नन्दा अपने आप में खोई हुई-सी पूछती जा रही थी।

"हाँ, जो चेहरा गुम हो गया था—उसे वह बचपन से कई जगह खोजता रहा होगा···"

"यह कितना भयानक है···"

"भयानक तो है ही···कसूर किसी का होता है पर हमेशा बिचारे बच्चे को भुगतना पड़ता है···" और परम ने नन्दा के कंधे को जरा सा हिलाकर पूछा—"पर तुम्हारा रंग पीला जर्द हो रहा है—तुम्हें क्या हुआ है ?"

"मुझे···" नन्दा की आवाज काँपने लगी। उसे लगा—आज वह—अकेले—रात के सपने को झेल नहीं सकेगी। वह परम के कंधे के पास अपने मुँह को छिपाते हुए बोली—"मुझे रात बिल्कुल यही सपना दिखाई दिया था···पता नहीं क्यों···"

परम ने नन्दा को एक बाँह में लपेट कर प्यार जैसी झिड़की दी "शायद बहुत सीरियस किताबें छोटी उम्र में नहीं पढ़नी चाहिए—तुम यूनिवर्सिटी में कोई गेम्ज खेला करो, ऐसी किताबें कम पढ़ा करो···"

नन्दा का ध्यान परम की बात की तरफ नहीं था। उसे इस समय बालजाक के जीवन पर लिखी वह किताब याद आ रही थी जिसमें वह लिखता है कि बालजाक वह बच्चा था जो सारा दिन अपनी माँ

को हाथ से छूकर देखने के लिए तरसता रहता था…"

"परम ! नन्दा ने परम के कंधे के पास छुपाए हुए अपने मुँह को ऊपर उठाया और परम की तरफ देखते हुए पूछने लगी—"पर बालजाक की माँ ने उसको पास रखा था, चाहे वह गैरकानूनी बच्चा था…वह फिर भी माँ के प्यार के लिए तरसता रहा था…"

"उसकी माँ एक अमीर आदमी की नौकरानी थी। वह बच्चा उसी आदमी का था—उसने सोचा था कि बच्चे की खबर सुनकर वह उसके साथ ब्याह कर लेगा, पर उसके इन्कार से उसको मजबूरन एक बड़ी उम्र के आदमी के साथ ब्याह करना पड़ा और इसके लिए इस बच्चे को कभी माफ नहीं कर सकी…बालजाक—फ्रांस का मशहूर लेखक—पर छुटपन में माँ के हाथ को छूने के लिए भी तरसता रहता था… जिंदगी भी अजीब होती है…' और परम ने अचानक बालजाक के विचार में से निकल कर नन्दा से पूछा—"पर तुम क्यों परेशान हो ?"

"रात के सपने की वजह से…" नन्दा ने धीरे से कहा—और खाली प्याले ट्रे में रखकर नीचे जाने लगी।

तब परम ने कहा—"अब मैं तुम्हें अपने कमरे की चाभी नहीं दिया करूँगा—न जाने तुम क्या-क्या सोचती रहती हो—"

नन्दा कमरे की दहलीज में खड़े होकर हँस दी—"चोर का खिताब तो मिल ही चुका है, किसी-न-किसी तरह कमरा भी चोरी से खोल लूँगी…"

१०

तीसरे दिन—सवेरे वाला चाय का प्याला नन्दा से लेकर परम ने उसे सामने दीवान पर बैठने के लिए कहा। आज वह खुद अपनी रोज वाली कुरसी पर बैठा हुआ था—चाय का प्याला भी उसने दीवान वाली छोटी चौकी पर रखने की बजाय मेज पर रख दिया था।

"तुम कुछ बालजाक की और बच्चा लेने की बात कर रही थी न ?—" परम के इस अधूरे से वाक्य को सुनते ही नन्दा का जी किया कि कह दे—"नहीं, मैं उनकी बात नहीं कर रही थी, न और किसी की, मैं तो अपनी बात कर रही थी"—पर नन्दा ने अपने सिर से "हाँ" कह कर मुँह से कुछ नहीं कहा।

परम ने ही कहा—"परसों और कल सारा दिन और रात को कोई आधी रात तक मैं उन बच्चों के बारे में ही पढ़ता रहा जिन्हें लोग ग़ैरक़ानूनी कहते हैं।"

नन्दा हँस दी—"चालबाक तो मुश्किल से कोई बनता है—बाकी विचारे···न जाने दुनिया में उस जैसे बच्चे कितने होते हैं···"

"सारी दुनिया में चार-फ़ी-सदी होते हैं—हज़ार बच्चों में चालीस···वैसे किसी जगह एक-फ़ी-सदी, तो किसी-किसी जगह कई फ़ी-सदी होते हैं—पर समूचे तौर पर···" परम अपने नए प्राप्त किए हुए ज्ञान में इतना डूबा हुआ था कि उसने नन्दा की पीड़ा और व्यंग से भरी हुई हँसी की ओर ध्यान नहीं दिया। सिर्फ़ नन्दा के खुलते और बन्द होते होंठों को मालूम था कि वह कहना चाहती थी—"पर इस गिनती में मैं शामिल नहीं, इसलिए यह गिनती ग़लत है···" पर नन्दा ने अपनी हँसी को अपने होंठों से आँसू की तरह पोंछ दिया और परम की ओर देखने लगी।

परम कह रहा था—"ब्रिटेन में १५७६ के ऐक्ट के अनुसार ग़ैर-क़ानूनी बच्चे के लिए माँ-बाप पर इलज़ाम लगाया जा सकता था, लोग अपने बच्चों को अपनाते नहीं थे। और लन्दन में ऐसे बच्चों की संभाल के लिए १७३९ में पहला अस्पताल बना···"

"पर १७३९ से पहले उनकी क्या हालत होती थी?" नन्दा ने परम की बात काट कर सवाल किया, पर परम इसका जवाब देने की जगह कह रहा था, "अमरीका में ऐसी संस्था १८५६ में बनाई गई।"

"फिर?"

"असल में सब क़ानून ज़रूरत के मुताबिक़ बदलते हैं, पहले ग़ैर-क़ानूनी बच्चों के लिए बड़े सख़्त क़ानून होते थे—मसलन उनके जन्म के समय उनका ग़ैरक़ानूनी होना उनके बर्थ-सर्टिफ़िकेट पर लिख दिया जाता था—और यह बर्थ-सर्टिफ़िकेट ज़िन्दगी में चाहे वह कितना भी छुपा कर रखते—उसे कई बार एक्सपोज़ होना पड़ता था···"

"हाँ, उसके बग़ैर तो बच्चे किसी स्कूल में दाख़िल भी नहीं हो सकते···"

"हाँ, स्कूल कालिज में दाख़िल होने के समय, फिर नौकरी के लिए दरख़ास्त देने के समय,···पासपोर्ट बनवाने के समय···ड्राइविंग लाइसेन्स लेने के समय···ब्याह करने के समय···"

"फिर?"

"१९३८ में अमरीका की चार स्टेट्स ने फ़ैसला दिया कि बच्चों के बर्थ-सर्टिफ़िकेट पर यह बात न लिखी जाए। फिर तीस साल बाद सोलह स्टेट्स ने यह फैसला कर लिया। और एक और फ़र्क़ यह पड़ा कि जिन लोगों के घर मे बच्चे नही थे—वह इन बच्चों को एडाप्ट करने लगे। और इस तरह समाज पर उन मांओं का एहसान माना जाने लगा जो इन बच्चों को जन्म देकर—कई नि:सन्तान लोगों का घर आबाद कर देती थीं···पर कानून बड़े अजीब होते हैं···

"किस तरह ?"

परम हँसने लगा, "ऐसे बच्चों की गिनती कम थी तो कई लोग इन बच्चों को अच्छी निगाह से देखने लगे थे—पर गिनती बढ गई तो अमरीका की कई स्टेट्स ने यह कोशिश की कि एक क़ानून बना कर एक औरत को एक ग़ैर क़ानूनी बच्चे की इजाज़त तो दे दी जाए, पर बहुत बच्चों की नहीं···"

"वह किस तरह ?" नन्दा अपने विचार में से निकलकर सचमुच बाहर के विचार से जुड़ रही थी—उन अनेक व्यक्तियों की तक़दीर के साथ जो उस जैसे थे—पर दुनिया में पता नहीं कहाँ-कहाँ थे।

परम कहने लगा, "मैं तुम से कह रहा था न कि कानून बड़ी अजीब चीज़ होते हैं—उन लोगों ने सोचा कि अगर कोई औरत एक के बाद ऐसे ही दूसरे बच्चे को जन्म दे तो उसे जबरदस्ती बच्चा न पैदा कर सकने वाली औरत बना दिया जाए···"

"पर परम !" नन्दा कुछ सोचती हुई-सी कहने लगी, "वह तो हुआ, पर इसमें बच्चे का क्या कसूर होता है···"

"यह असल में" परम हिसाब-सा लगाता हुआ बताने लगा, "इस सारी बात में तीन जने शामिल होते हैं—एक आदमी, एक औरत, और एक यह पैदा होने वाला बच्चा। आदमी का तो अकसर किसी को पता नहीं चलता, औरत भी चाहे तो यह कर सकती है कि किसी को उसका पता न चले, पर बच्चा कहाँ जाएँ ? सो, समाज को भले ही उस आदमी या उस औरत पर गुस्सा आता है—पर वह न तो उसको खोज सकता है, न कुछ कर सकता है—इसलिए सारा गुस्सा उस बच्चे पर उतारता है जो सामने होता है···"

और परम कहने लगा, "दूसरे महायुद्ध से पहले यह कानून सख्त होते थे, पर युद्ध में जब बहुत लोग मारे गए तो जिन देशों की आबादी घट गई उन्होंने इस तरह के क़ानून नरम कर दिए। मसलन—ब्रिटेन

ने यह क़ानून पास किया कि गैरकानूनी बच्चे के माता-पिता अगर बाद में ब्याह कर लें तो बच्चे को उस ब्याह की तारीख से क़ानूनी समझ लिया जाएगा। और एक यह क़ानून भी पास किया कि बच्चे को कुंवारी माँ की जायदाद ले सकने का हक है, माँ की जायदाद भी, और माँ के माता-पिता की जायदाद भी। इसी तरह सोवियत रूस के दो करोड़ लोग जंग में मारे गए थे। उन्होंने अपनी जनसंख्या की कमी को पूरा करने के लिए यह फ़ैसला किया कि कानूनी और गैर-कानूनी के अन्तर को मिटा दिया जाए···"

"सो, कई बार किसी अन्याय को मिटाने के लिए।" नन्दा हँस पड़ी, "किसी बहुत बड़ी तबाही की जरूरत होती है···"

"पर सुनो!" परम कहने लगा, "नार्वे को ऐसी कोई मजबूरी नहीं थी, सिर्फ मानवता के नाते उसने १९१५ में यह सोचा कि गैर-कानूनी बच्चे को भी कानूनी बच्चे वाले सारे हक दिए जाएँ, और नार्वे ने अपने देश में यह कानून पास कर दिया कि स्वीडिश कानून के अनुसार माता-पिता का चाहे आपस में ब्याह न हुआ हो, पर कभी ब्याह का इकरार तो हुआ ही होगा, सो उस इकरार की बुनियाद पर बच्चे को पिता का नाम बरतने का भी अधिकार होता है, और उसकी जायदाद में हिस्सा लेने का भी। सोवियत यूनियन में १९४४ से पहले बच्चे की ज़िम्मेदारी उसके पिता को सौंपी जाती थी, पर १९४४ के बाद यह ज़िम्मेदारी स्टेट की अपनी हो गई है···"

"ठीक है, परम!" नन्दा का सारा साँस एक हाथ का बन गया, "इस तरह कुछ दाग तो बच्चे के माथे से पोंछे गए, पर जो उसके दिल में एक दाग़ होता है—···" पर वह अपने प्रश्न के उत्तर का इन्तज़ार किए बिना परम से कहने लगी, "तुम इस बात पर इतना कुछ पढ़ते और सोचते रहे हो, पी० एच० डी० के लिए तुमने अपना सबजेक्ट तो नहीं बदल लिया?"

परम हँसने लगा, "अभी तो तुम्हें मालूम ही नहीं कि मैंने इस सबजैक्ट पर दो दिनों में कितनी रिसर्च की है, मैंने इसके बारे में फ्रेन्च लॉ भी पढ़ा है, जरमन लॉ भी,···प्रिमिटिव सोसायटी में जिस तरह सोचा जाता था, वह भी···और इसके अलावा···दुनिया की माइथालोजी में···"

"माई गौड, परम! तुमने यह सब-कुछ···क्यों?···" नन्दा से न कुछ कहा जा रहा था, न हैरान होने से रहा जा रहा था···

"कुछ नही—परसों तुम्हे एक अजीब-सा सपना आया था न—इसलिए परम हँसने लगा···पर उसकी हँसी जैसे गहरे में कही नन्दा की उदासी से जुड़ी हुई थी।

नन्दा को परम के मुँह पर अपनत्व की एक झलक-सी दिखाई दी—और उसे लगा—जैसे उसकी उदासी आज अकेली नही थी···

११

सारे घर की हवा—अचानक धुआँ सी गई।

एक दिन सवेरे जब नन्दा सबकी चाय लेकर ऊपर की मंज़िल पर गई तो रवि और अशोक को उनके कमरो मे चाय देकर परम के कमरे में गई—देखा—परम एक कैनवस के पास खडा कुछ पेंट कर रहा है, उसके दाहिने हाथ में ब्रुश है, लेकिन बाएँ हाथ में सिगरेट है, और पास मेज पर जले हुए सिगरेटों के कई टुकड़े और उनकी राख का एक ढेर-सा लगा हुआ है—जैसे वह सारी रात जागता रहा हो, सिगरेट पीता रहा हो, और शायद पेंट करता रहा हो···

"परम!" नन्दा उसकी पीठ की तरफ थी, मेज पर चाय का प्याला रखते हुए उसने तीन बार आवाज दी "परम···" पर परम ने सुनी नही।

नन्दा ने परम की बाई बाँह को हिलाया। परम ने कुछ चौंक कर अपनी ओर देखा—फिर जल्दी से सामने वाली पेंटिंग को पलट कर उसका मुँह दीवार की ओर कर दिया।

"मुझे पेंटिंग नही दिखाओगे?" नन्दा ने कुछ हैरान हो कर पेंटिंग की पीठ की तरफ देखा।

"नहीं—परम की आवाज अभी बुझाए हुए सिगरेट की तरह थी जिसमें से अभी भी हल्का सा धुआँ निकल रहा हो···

"अभी पूरी नहीं हुई? शाम को दिखाओगे?"

"नही"—परम की आवाज एकाएक देर के बुझे हुए सिगरेट की तरह हो गई।

नन्दा कुछ हैरान, कुछ उससे गुस्से भी, उसका चाय का प्याला मेज पर रखकर चुपचाप कमरे से चली गई। उसका पाँव दहलीज के पास एक बेबसी से रुक गया, उसने खड़े हो जाना चाहा, परम से फिर कुछ कहना चाहा, पर परम की उकताई हुई-सी आवाज आई—"नन्दा,

प्लीज़ !" और नन्दा चुपचाप नीचे चली गई···

उसी दिन—रात के खाने के समय—जब सब मेज़ के गिर्द बैठे हुए थे—नन्दा ने एक नज़र परम की ओर देखा—मानो उसके चेहरे पर उसकी सवेरे की खीझ को देख कर—उसका कोई अर्थ समझना चाहती हो। पर परम का मुँह नीचे झुका हुआ था—सिर्फ़ प्लेट की तरफ़···

पापा ने इन दिनों नन्दा के ब्याह की बात कभी नहीं छेड़ी। सिर्फ़ कभी-कभी रवि कोई बात चला दिया करता था—पर उसे किसी का हुंकारा नहीं मिलता था, और बात उसी तरह अधूरी खतम हो जाती थी।

आज भी रवि ने बात चलाई—"पापा ! कैनेडा वाले कमलेश का खत आया है।"

"अच्छा" पापा ने एक बार कहने को कह दिया, लेकिन आगे कुछ भी नहीं कहा। पूछा भी कुछ नहीं।

रवि ने ही कहा, "पिछले खत में उसने पूछा था—कौन लड़की है ? तो मैंने लिख दिया था—"मेरी बहन"—और रवि ने इतनी बात कहकर सबकी ओर देखा, पर किसी का भी ध्यान उसकी बात की तरफ़ नहीं था।

पापा लाज बीबी से कह रहे थे, "सवेरे सात बजे का प्लेन है, मेरा सूटकेस तैयार है ?"

"मैंने दोपहर को जब आपका फ़ोन आया था उसी वक्त आपके कपड़े सूटकेस में रख दिए थे" लाज बीबी ने बताया। साथ ही उन्होंने पूछा, "कितने दिन लग जाएँगे ?"

"वही तीन दिन···" पापा ने कहा।

सबको मालूम था—पापा को किसी न किसी मैडिकल कालिज से बुलावा आता रहता था, और वह कभी-कभी लैक्चर टूअर पर जाया करते थे, इसलिए फिर किसी ने कुछ नहीं कहा, पर रवि ने कहा, "पापा ! नन्दा के लिए लड़का देखने जा रहे हैं ?"

पापा हँस दिए—पिछले हफ्ते तुम्हारे सामने पटियाले से तार आया था, तुम्हें याद नहीं ?" और फिर प्यार से नन्दा की तरफ देखते हुए कहने लगे "आजकल बहन को घर से निकाल देने की बहुत चिन्ता लगी हुई है। उसे आराम से एम० ए० करने दो—"

"हाँ, हाँ—एम० ए० करे, पी० एच० डी० करे" रवि के स्वर

में कुछ कड़वाहट थी, पर किसी ने उसका बुरा नहीं माना, उसकी इतनी तेज़ तल्ख़ी की मानो सबको आदत पड़ गई हो।

रवि ने ही रुककर कहा, पर आपने कमलेश का ख़त सुना ही नहीं। उसका ख़त आया है कि अगर तुम्हारी बहन की बात है तब उसे देखने की जरूरत नहीं। उसने मुझे लिखा है—'तुम्हारी बहन, वह जरूर तुम्हारे जैसी होगी···" और रवि ने हाथ के ग्रास को रोक कर एक बार सबकी ओर देखा, फिर कहा, "पर मैंने उसे ख़त लिख दिया है कि तुम ख़ुद आकर एक बार देख लो। क्योंकि नन्दा की सूरत मुझसे नहीं मिलती, न किसी और भाई से, वह सिर्फ़ पापा से मिलती है—" और रवि ने सिकुड़ी हुई आँखों से पापा की ओर देखा।

पापा अपने ध्यान में मग्न खाना खा रहे थे···

रवि ने माँ की तरफ देखा, और हँस दिया "क्यों बीजी! हम सबकी शकल आप पर बहुत गई है—पर नन्दा की आप पर बिल्कुल नहीं—सिर्फ़ पापा पर गई है, है न?"

लाज बीबी हँस दीं, कहने लगीं, "इसमें अजीब बात क्या है—लड़कों की अकसर माँ से मिलती है और लड़कियों की पिता से।"

कोई कुछ नहीं समझा। सिर्फ़ नन्दा बहुत कुछ समझ गई···

नन्दा के सारे शरीर में एक ठंडी झुरझुरी गुज़र गई। उसने अशोक और परम की ओर देखा—वह असम्बन्धित-से चुपचाप खाना खा रहे थे। पर रवि के चेहरे पर बहुत कुछ था—कुछ शोख़ी जैसी भी, कुछ घुटा हुआ और कसा हुआ—शायद गुस्सा-जैसा भी···

और नन्दा ने यह भी देखा—कि रवि आँखों के कोयों से रह रहकर पापा की ओर देख रहा था···

नन्दा को भीतर गहरे से एक विचार स्पष्ट हो आया—"पापा ने भेद की बात जो पुरी-हर को बताई थी—वह शायद पहले किसी को मालूम नहीं थी—और अब वह बात पुरी-हर के घर से चलकर जरूर रवि तक पहुँच गई थी···"

नन्दा के गले का ग्रास गले में अटक गया···

परम कितनी देर से सामने अख़बार रखकर—उसके हाशिये पर कुछ लकीरें-सी लगा रहा था। कमरे में एक चुप-सी छा गई और वह अख़बार को रवि की तरफ सरकाकर कहने लगा—"यह लकीरें देखो!"

"यह क्या है?" रवि के स्वर में एक तुर्शी थी।

"यह एक सीधी लकीर है, और यह दो टुकड़ों में···"

"यह तो दिखाई दे रहा है, पर इसका मतलब ?"

परम ज़रा-सा हँस दिया—"कोई चीज़ अकेली नहीं होती, अगर पाज़िटिव होता है, तो नेगेटिव भी होता है—इसे चीन की फ़िलासफ़ी यांग और यिन कहती है···"

"फ़िलासफ़र साहब !···" रवि कुछ कहने जा रहा था, पर परम रवि की बात को सुने बगैर बोल उठा, "यह यांग और यिन पुरुष और नारी हैं—यांग पुरुष, यिन नारी। यांग के तीन नम्बर होते हैं यिन के दो···"

"वह क्यों ?" रवि ने अखबार को अपनी ओर खींचकर फिर परम की बात काटी···

"पुरुष की थ्री फ़ोल्ड नेचर—माइंड, स्पिरिट, बाडी—यानी दिमाग, रूह और जिस्म और नारी—स्पिरिट और मैटर, यानी थॉट और सेन्सिज़, यानी ईश्वर और मनुष्य के बीच का रिश्ता···"

इस समय केवल रवि ही नहीं, पापा भी, बीबी जी, और अशोक भी परम की ओर देख रहे थे। यूँ तो नन्दा भी उसकी ओर देख रही थी—पर परम की कोई बात जैसे उसे ध्यान देने के बावजूद सुनाई नहीं दे रही थी।

परम कह रहा था—"यह नेगेटिव पाज़िटिव जब इकट्ठा होते हैं तो अगर दो नेगेटिव और एक पाज़िटिव हों तब उनकी शकल एक सीधी लकीर होती है, पर अगर दो पाज़िटिव और एक नेगेटिव हों तब उनकी शकल यह दो भाग में बँटी हुई लकीर होती है। पहली को यांग लाइन कहते हैं, दूसरी को यिन लाइन···"

रवि ने ही फिर परम की बात को काटा, "लेकिन अगर तीनों पाज़िटिव हों, या तीनों नेगेटिव हों ?"

"तब हालत अनबैलेंस्ड हो होती है। प्रकृति के अनुसार दोनों एलीमेन्ट ज़रूरी हैं। मैं तुम्हें लॉ ऑफ हेरडिटी बता रहा था—पाज़िटिव लाइन में दो नेगेटिव, और नेगेटिव लाइन में दो पाज़िटिव—इसलिए प्रकृति के कानून के अनुसार लड़के में माँ के कैरेक्टरिस्टिक्स बहुत होते हैं, और लड़की में पिता के···"

परम ने जब यह कहा तो पापा और बीबी जी हँसते-हँसते दुहरे हो गए। अशोक भी खुल कर हँसते हुए रवि की ओर देख रहा था। रवि हँसा लेकिन कुछ तन्ज़ के साथ। सिर्फ़ नन्दा चुप थी—और

अख़बार के हाशिये पर परम बनाई हुई लकीरों को ऐसे देख रही थी—जैसे उन लकीरों से अपने अस्तित्व का भेद पूछ रही हो···

१२

डाक्टर मदान पटियाले चले गए।

सवेरे जब जाने लगे थे—नन्दा ने उनका नाश्ता मेज़ पर रखा था—और उसके पाँव इस तरह काँप रहे थे मानो आज घर से पापा नहीं जा रहे थे उसके पाँवों के नीचे की ज़मीन भी कहीं जा रही थी···

"नन्दू !" पापा ने एक बार बड़े लाड से कहा था "तेरे ऊपर पढ़ाई का बहुत ज़ोर पड़ गया है—तू आजकल विटामिन बी० ज़रूर लिया कर।"

नन्दा का जी कर रहा था—उसकी उम्र से कुछ बरस गिर जाएँ, वह दस बारह बरस की बच्ची-सी हो जाए—और पापा की गोद में बैठकर बहुत रोए···

पर नन्दा के जवान बरस उसके तन से भी और उसके मन से भी चिपटे हुए थे—उतारे नहीं उतर रहे थे—वह चुपचाप बाहर ड्योढ़ी में रखे हुए पापा के सूटकेस के पास चली गई—और उसने एक बार बाँहों में कस कर उस सूटकेस को प्यार किया—उससे अपना सिर इस तरह लगाए रखा—मानो वह पापा का कन्धा हो—

पापा चले गए—पर नन्दा उस दिन यूनिवर्सिटी नहीं जा सकी। दोपहर को उसका जी किया कि वह परम के कमरे में जाए—पर आज परम उसे अपने कमरे की चाभी नहीं दे गया था।

नन्दा को याद आया—एक दिन उसने परम से कहा था—"चोर का ख़िताब तो मिल ही चुका है, किसी न किसी तरह तुम्हारा कमरा भी चोरी से खोल लूँगी"—पर आज नन्दा के अन्दर यह चोरी करने की भी हिम्मत नहीं थी···

पूरा दिन किसी न किसी तरह बीतना ही था—बीत गया। रात खाने के समय जब रवि, अशोक और परम खाना खाने लगे, एक बेचैन-सी ख़ामोशी छाई हुई थी।

आज लाज बीवी ने बातों में पहल की। रवि से कहने लगीं, "तुम हर वक्त नन्दा के ब्याह की बात करते हो, पर मैं जब तुम्हारी बात करती हूँ तुम सुनते ही नहीं···"

रवि ने कुछ रूखा-सा जवाब दिया "मेरे ब्याह का क्या है, जब जी करेगा कर लूंगा।"

अशोक ने माँ को बताया हुआ था कि आजकल रवि मैडिकल कालिज की एक लड़की सुधा के साथ स्टेडी पर जा रहा है, पर रवि ने कभी कुछ नहीं बताया था—इसलिए माँ ने बात को घुमाकर कहा—"तुम जहाँ कहोगे वहाँ ही करेंगे—पर बात तो किया करो।" और लाज बीबी हँसने लगी, "मेरा मन अब पोता खिलाने को करता है।"

"तथास्तु"—रवि ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा। पर नन्दा को लगा—रवि की हँसी स्वाभाविक नहीं थी—उसमें कुछ और बड़ा कड़वा-सा भी था—और नन्दा अभी एक चिन्ता में पड़ी हुई रवि की ओर देख रही थी कि रवि की आवाज़ कसैली हो गई, वह माँ की ओर देखकर कहने लगा, "बी ! पोता खिलाने को आपका जी करता है तो मैं एक पोता आपको ला दूँगा—"

लाज बीबी घबरा-सी गई "क्या मतलब ?"

"कुछ नहीं" रवि ने लापरवाही से जवाब दिया, "मैं ब्याह नहीं करना चाहता—नहीं करूँगा। पर आप कहती हैं तो···"

लाज बीबी के हाथ का ग्रास छिटक गया, उन्होंने टूटती-सी आवाज़ में सिर्फ़ इतना कहा, "रवि !"

"बी जी ! इसमें घबराने की क्या बात है "रवि का स्वर धीमा तो हो गया, पर तीखे व्यंग से भरा रहा। वह कहने लगा, "आखिर बच्चे बाप पर ही जाते हैं—पापा ने भी तो···"

लाज बीबी घबरा कर मेज़ से उठ गई और सीधी अन्दर अपने कमरे में चली गई···

नन्दा रोने को नहीं—मानो मरने को हो गई···

अशोक और परम चुपचाप खाना छोड़ लाज बीबी के पीछे उनके कमरे की तरफ चले गए।

नन्दा मेज़ से उठ गई थी—पर अशोक और परम के पीछे कमरे तक पहुँच कर भी—कमरे के अन्दर नहीं गई, दरवाजे के पास खड़ी रह गई।

रवि कुछ देर, जैसे एक ज़िद में, अकेला मेज़ पर बैठा रहा, फिर शायद उसकी ज़िद कहीं भीतर से ही टूट गई, या और सख़्त हो गई, वह तेज़ क़दमों से लाज बीबी के कमरे में जाकर खड़ा हो गया।

लाज बीबी, घबराई हुई, कमरे की खिड़की के पास खड़ी हुई

थी। तेज हवा से पिछले बगीचे में झड़ते हुए कुछ पत्ते उनके कमरे की खुली हुई खिड़की में से अन्दर कमरे में भी गिर रहे थे—और लाज बीबी उनमें से ही कुछ पत्तों को हथेली में लेकर एक बेचैनी से उन्हें पोरों से मसल रही थीं···

अशोक और परम चुप थे—हैरान थे—पर कुछ भी कहने की उन्हें हिम्मत नहीं बँध रही थी···

रवि जब कमरे में आया—लाज बीबी ने अपने मन का सारा गुस्सा आँखों में डालकर उसकी ओर देखा···

लाज बीबी को सब बीजी कहकर बुलाते थे—सिर्फ़ रवि जब बहुत लाड में होता था—कभी-कभी प्यार से "माम" कहा करता था। अब भी रवि ने आगे बढ़ कर लाज बीबी के कंधे पर हाथ रखा—और कहा, "माम !"

लाज बीबी ने रवि के हाथ को कंधे पर से झटक दिया—कुछ देर चुप रहीं—फिर जैसे थक कर खिड़की के पास से इधर को आकर अपने पलंग पर निढाल-सी बैठ गईं।

और फिर लाज बीबी का रोना फूट निकला। बच्चों ने आज तक माँ को रोते नहीं देखा था—पहली बार देखा—और सब का मुँह रुआँसा हो गया—रवि का भी···

अशोक और परम लाज बीबी के पलंग की पट्टी को पकड़ कर इस तरह खड़े हो गए—जैसे माँ को अपनी जवान बाँहों का भरोसा दिला रहे हों···

रवि को ख्याल नहीं था—कि आज उसे पछताने जैसा भी कुछ लगेगा—पर मन में कुछ घिर आया—और वह पलंग के पास घुटनों के बल ज़मीन पर बैठकर—माँ के पास को था—उदास हो गया।

"नन्दा कहाँ है ?" लाज बीबी ने आँखें पोंछकर चारों तरफ़ देखा।

नन्दा परे दरवाज़े की चौखट के पास खड़ी हुई थी। उसने लाज बीबी की आवाज़ सुनी—पर उसके पाँवों में जैसे जान नहीं रह गई थी—उससे आगे न बढ़ा गया।

"इधर आ, मेरे पास !" लाज बीबी ने दरवाज़े की तरफ़ हाथ किया।

रवि को पछतावे का एहसास था—वही एक तेज़ी के साथ उठा, और दरवाज़े के पास जाकर नन्दा को अपनी बाँह में लपेट कर माँ

के पास ले आया।

नन्दा के पाँव काँप रहे थे—वह जानती थी कि रवि की कही हुई बात ने परदे की जिस दीवार को ढाह दिया था—अब उसे किसी तरह भी बचाकर नहीं रखा जा सकता था—और अब यह काँच की सारी इमारत चूर-चूर होकर उसके सिर पर गिर पड़ेगी···

लाज बीवी ने नन्दा को अपने पास अपनी बाँहों में लपेटते हुए—उसके सिर को इस तरह गोद में लिया—जैसे सिर को छुपा लिया हो···

और लाज बीबी ने बड़ी पक्की, लोहे-जैसी आवाज़ में रवि से पूछा—"अब बताओ ! तुम क्या कहना चाहते हो। पूछो, क्या पूछना चाहते हो !"

रवि से बोला नहीं गया।

"बोलो ! अब बोलते क्यों नहीं ?" लाज बीवी की आवाज़ में कोई फैसला-जैसा था।

"कुछ नहीं" रवि ने सिर्फ़ इतना ही कहा।

"नहीं—मैं तुम्हें शक का जहर नहीं पीने दूँगी। आखिर मैं तुम्हारी माँ हूँ, अपने हाथ से तुम्हें जहर नहीं दे सकती—" लाज बीवी के आँसू सूख चुके थे। आँखों में मन के फ़ैसले की एक चमक थी।

"नहीं माम ! कुछ नहीं···कुछ नहीं···" रवि ने माँ के घुटने पर मिन्नत के साथ अपना हाथ रखा।

"जानती थी···कभी यह वक्त आएगा···पर ऐसे आएगा, यह नहीं सोचा था, ."लाज बीबी की आवाज थोड़ी सी धीमी पड़ गई, फिर संभल गई—कहने लगीं "बस अभी एक खयाल आया था कि आज तुम्हारे पापा भी यहाँ होते, मेरे पास मेरे साथ,···पर ठीक है, वह हमेशा मेरे पास हैं, मेरे साथ हैं—कोई फर्क नहीं—तुम्हें जो कुछ कहना है, कह दो !" लाज बीवी ने एक हुक्म की तरह रवि से कहा।

रवि चुप था—पर इस हुक्म के आगे चुप नहीं रह सकता था—बुझी हुई आवाज में कहने लगा—"मैंने कुछ नहीं कहा, पर वह पुरी—वही लोग कुछ कह रहे हैं—वही पापा के बारे में और नन्दा के बारे में···"

लाज बीबी ने नन्दा के सिर पर अपनी हथेली इस तरह रखी—मानो एक हथेली से एक दुनिया थाम लेंगी। कहने लगीं, "वह लोग

पापा के और नन्दा के बारे में क्या कह रहे हैं ?"

रवि चुप था। लाज बीबी के होंठ कांप कर भी सँभल गए, कहने लगीं, "यही न, कि नन्दा मुझसे जन्मी हुई बेटी नहीं, वह पापा की किसी और औरत से जन्मी हुई बेटी है ?"

"माम !" रवि को उम्मीद नहीं थी कि यह हैरानी भी उसे झेलनी पड़ेगी—कहने लगा, "मेरा ख़याल था—आपको भी यह बात मालूम नहीं है।"

लाज बीबी हँस पड़ी। मन की सारी पीड़ा को जैसे यही एक रास्ता मिला हो। कहने लगीं, "और तुमने यह नहीं सोचा कि तुम्हारे पापा में उस समय एक भगवान जैसी शक्ति आई होगी जब उन्होंने नन्दा के ब्याह की ख़ातिर किसी को यह बात बताई होगी।"

रवि की पकड़ में कुछ नहीं आया, वह माँ के मुँह की ओर देखने लगा। अशोक और परम चुप थे—पर उनके शरीर का रोम-रोम जैसे उनके कान बन गया था।

लाज बीबी की आवाज सँभली हुई थी, पर उदास थी—कहने लगीं, "मेरा ख़याल है—जिन लोगों को हम रिश्तेदार कहते हैं उनसे बढ़ कर दुश्मन कोई नहीं होता। नन्दा के ब्याह की बात चली, और हमारे रिश्तेदारों में से ही किसी ने पुरी-हर को जाकर बताया कि नन्दा हमारी बेटी नहीं है, नन्दा हमारी गोद-ली हुई लड़की है···"

"नहीं, माम !" रवि ने बात काटी "सिर्फ़ यह नहीं—उन्होंने यह कहा कि..."

"नहीं, यह दूसरी बात तुम्हारे पापा ने ख़ुद सोचकर बताई थी, इस लड़की को किसी तरह अपने खानदान की लड़की साबित करने के लिए। और इसीलिए जायदाद का एक हिस्सा उसके नाम किया था ताकि जहाँ उसका ब्याह हो उन लोगों को इस बात का यक़ीन हो जाए।" और लाज बीबी की आवाज भर आई—"यह तुम्हारे पापा का कितना बड़ा दिल है कि उन्होंने अपने ऊपर एक इलज़ाम ले लिया सिर्फ़ इसलिए···इसलिए कि हमारे समाज में मर्द का कोई गुनाह-गुनाह नहीं होता···गुनाह सिर्फ़ औरत का होता है···या उस बच्चे का जो···"

नन्दा ने काँप कर लाज बीबी की गोद में से सिर उठाया—पत्थर के एक बुत की तरह एकटक लाज बीबी के मुँह की ओर देखने लगी।

"नन्दा !" लाज ने नन्दा के एक हाथ को अपनी गर्दन के पास

रख कर कहा, "सोचती थी—मरने से पहले तुझे यह बात बता जाऊँगी ताकि मेरे मरने के बाद अगर कभी कोई तुझे कुछ कहे तो तू घबराए नहीं—पर वह वक्त अभी आ गया है···"

लाज बीबी को लग रहा था कि बात कुछ इस तरह थी जैसे कच्चे फल को पकने का मौका न मिला हो, नन्दा की उम्र भी इस सदमे के लिए सयानी नहीं थी, और न किसी और बच्चे की, पर अब कुछ नहीं हो सकता था। कच्चे फल को ही किसी तरह रुई की तह में रख कर पकाना था। कहने लगी—"जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बँटवारा हुआ था, कुछ बड़ी अच्छी, सुन्दर और बड़ी ही मासूम लड़कियाँ जुल्म का शिकार हुई थीं। सरकार ने, जब यह लड़कियाँ मिल जाती थीं—उनमें से कई माँ बनने वाली थीं—तुम्हारे पापा डाक्टर थे—उस समय सरकार ने उन्हें भी उन लड़कियों की देख-भाल के लिए लगाया था। उन्हीं में से एक लड़की थी···मैं भी सरकारी कैम्प में उन लड़कियों के पास जाया करती थी···मुझे सच-मुच उस से प्यार हो गया था—वह कृष्णा मुझे सगी बहन की तरह लगने लगी थी—पर वह बहुत दिन नहीं रही। मरने के वक्त उसी ने मुझे यह एक महीने की नन्दा सौंपी थी—"

रवि की आँखों में सचमुच पानी भर आया, माँ के मुँह की ओर देख नहीं सका, सिर्फ पलंग के पास घुटनों के बल बैठे हुए उसने अपना सिर माँ के घुटने के पास रख दिया। इस समय रवि को यह भी याद आया था कि वह उन दिनों ननिहाल गया हुआ था—वह भी और अशोक भी—माँ के पास सिर्फ़ छोटा परम था। और वह दोनों जब ननिहाल से वापस आए थे—माँ ने छोटी-सी नन्दा उन्हें दिखा कर कहा था—"देखो! तुम्हारे पीछे तुम्हारी बहन पैदा हो गई।"

लाज बीबी कह रही थी—"यह सच है, पर छोटा सच। बड़ा सच यह है कि नन्दा मेरी और पापा की उतनी ही प्यारी बेटी है—जितने तुम तीन लड़के। उतनी ही सगी···" और लाज बीबी ने नन्दा को अपनी छाती से इस तरह लगा लिया—जिस तरह आज से तेईस बरस पहले तब लगा लिया था—जब वह एक महीने की थी।

१३

नन्दा की जिस परेशानी को पिछले कई महीनों से कोई रास्ता नहीं मिल रहा था—और वह रुके हुए पानी की तरह उसके मन में

किनारों को ही तोड़ रही थी—अब नन्दा को लगा—मानो उसे एक प्राकृतिक प्रवाह मिल गया हो—और वह उस पानी के खतरनाक थपेड़े से बच गई हो···

नन्दा कुछ देर अकेली अपने कमरे में बैठी रही, मन ज़िन्दगी की असलियत को स्वीकार करके शान्त था, केवल आँखों से रह-रह कर एक शान्त पानी वह रहा था। नन्दा ने कुछ बार उठकर मुँह धोया, पोंछा, पर आँखें फिर-फिर भर आती थीं। उसे ख़याल आया—मानो वह आज तेईस बरस के बाद माँ की मौत पर रो रही हो···

नन्दा के अन्तर में अब बेचैनी नहीं—सिर्फ़ एक एहसास था—कि एक मौत पर जो रोना बाकी था—यह सिर्फ़ वह था···

आँखें भर-भर आती रहीं—नन्दा हथेली से पोंछती रही···

और फिर—नन्दा की आँखें जब कुछ हल्की हो गईं, उसे लगा—जैसे उसकी हथेली में सच का एक वह सिक्का था—जिसके दोनों तरफ़ सच था। लाज बीबी की कोख से जन्म न लेना भी सच था, और लाज बीबी की बेटी होना भी सच था···

लाज बीबी के सवेरे कहे हुए शब्द याद आए—यह सच है, पर छोटा सच। बड़ा सच यह है कि नन्दा मेरी और पापा की उतनी ही प्यारी लड़की है, जितने तुम तीन लड़के। उतनी ही सगी···"

और नन्दा का इस बड़े सच के आगे सिर झुक गया। इस समय लाज बीबी और पापा सामने नहीं थे, पर बड़े सच की अगर कोई शकल हो सकती थी—तो वह लाज बीबी की शकल थी, और वह पापा की शकल थी···

नन्दा फिर पानी से मुँह धोकर गुसलख़ाने के बाहर आई। अब उसके मन की तरह उसकी आँखें भी शान्त थीं।

उसे ख़याल आया—लाज बीबी अक्सर सोते समय कॉफ़ी पिया करती थीं, तो वह उनके लिए कॉफ़ी बनाने रसोई में चली गई।

रसोई में पहले ही रवि खड़ा हुआ था, और प्यालों में सबके वास्ते कॉफ़ी डाल रहा था। नन्दा को देखकर रवि ने हाथ की कॉफ़ी का पॉट वहीं रख दिया, और आगे बढ़कर नन्दा को दोनों बाहों में कस लिया "मैं अभी कॉफ़ी का प्याला लेकर तुम्हारे कमरे में आने वाला था।"

नन्दा की आवाज़ सहज स्वभाविक थी—"तुमने मुझे पुकारा क्यों नहीं, मैं कॉफ़ी बना देती, मैं अब भी बीजी के वास्ते कॉफ़ी बनाने के

लिए आई थी।"

रवि ने हल्के से नन्दा के कान के पास उसे चूम लिया। रवि की आँखें गीली थी, "तुमने मुझे माफ़ कर दिया है या नहीं?"

नन्दा ने अपना सिर रवि की छाती से लगा दिया—जैसे बरसों की बिछड़ी किसी लड़की ने अपने पिता या भाई की छाती से सिर लगा दिया हो···

अशोक और परम बाहर मेज के पास चुप खड़े थे—शायद कॉफी का भी इन्तजार कर रहे थे—और आज के आश्चर्य को झेल पाने के लिए कुछ समय का भी···

रवि ने नन्दा को गले से लगा कर प्यार किया, माफी माँगी, तो अशोक को कुछ हिम्मत-सी हो गई—उसने आगे होकर नन्दा के पास जाकर सिर्फ़ उसका हाथ पकड़ा—और कितनी ही देर पकड़े रखा। मुँह से कुछ कह सकना उसे कठिन लग रहा था—पर उसकी आँखों में कुछ इतना पिघला हुआ था—नन्दा ने एक बार उसकी ओर देखा—और प्यार से उसकी अपनी आँखें भी पिघल आईं, भर आईं।

रवि ने सब प्याले ट्रे में रख दिए और ट्रे को दोनों हाथों में उठा कर सीधा माँ के कमरे में चला गया। उसके पीछे-पीछे नन्दा भी, और अशोक भी।

मेज के पास से गुजरते हुए नन्दा ने वहाँ चुप खड़े हुए परम की तरफ देखा, पर परम ने ध्यान परे कर लिया था। नन्दा कुछ हैरान हुई—पर कमरे में से रवि की आवाज आ रही थी—"माम! अब इस बेवकूफ बेटे को माफ़ कर दो न! उठो कॉफी पियो! आज मैं कॉफी बनाकर लाया।"—तो नन्दा रवि के प्यार में शामिल होने के लिए अन्दर कमरे में चली गई। अशोक उसके साथ था—और परम चुपचाप उसके पीछे।

उस रात नन्दा अपनी तरफ़ से शान्त मन सोई थी···

पर मन ने शायद कुछ बेचैनी उससे भी छुपा ली थी, वह रात को सपनों की तहों में सुलगती रही···

सवेरे-सवेरे जब नन्दा जागी, उसे सिलसिलेवार कुछ याद नहीं था, पर कुछ रेत—पानी—शक्लें—आवाजें—सपनों के बिखरे हुए से टुकड़े—उसकी आँखों में थे···

नन्दा ने उठकर, गुसलखाने में जाकर मुँह धोया, आँखों में से भी

कुछ धो देना चाहा—लेकिन तौलिये से हाथ पोंछते हुए जब उसने सामने शीशे में देखा—उसकी अपनी आँखें ही उसके अपने मुँह पर भटक रही थीं···

वह आँखें शायद अभी भी—उन परछाइयों को ध्यान लगाकर पहचानना चाहती थीं जो रात सपने में उनके सामने उभरती थीं—मिटती थीं—पकड़ में आती थीं—समझ-से छिटकती थीं···

बिसरी हुई आकृतियों को—और गले में फँसी हुई आवाज़ों को, नन्दा ने टूटे हुए धागों की तरह जोड़-जोड़ कर देखा—

कोई एक नदी थी जिसके किनारे पर बहुत सारे लोग थे···बड़ा शोर था, भीड़ थी, और उस ऊँची-नीची ज़मीन पर उसके पाँवों में पहनी हुई चप्पलें उतर-उतर जाती थीं···

उसने लगभग तीन बार लाज बीबी से कहा "चलिए घर चलें"···

शायद नदी के परले किनारे पर उन्हें जाना था—उनका घर इस तरफ़ नहीं—उस तरफ़ था—लाज बीबी ने हाथ से उधर इशारा किया था—इस किनारे से कई नावें अब उस किनारे की तरफ़ जा रही थीं···

और परे एक नाव में बैठे हुए लोगों में उसने—पापा को देखा—रवि को भी—शायद अशोक और परम भी उस नाव पर थे—पता नहीं नाव अब उरले किनारे से बड़ी दूर मँझधार में पहुँच चुकी थी···

पर वहाँ एक और नाव भी थी—उसमें भी लोग बैठ रहे थे··· लाज बीबी भी जाकर उस नाव में बैठ गईं···पर नन्दा जब नाव में बैठने लगी···उसके पाँव की एक चप्पल पाँव में से निकल गई—और वह चप्पल को फिर पैर में पहन रही थी—कि वह नाव किनारे से बड़ी दूर चली गई···

उरले किनारे पर अभी भी बहुत लोग थे—पर नन्दा बड़ी घबराई हुई उनकी ओर देख रही थी···वह जाने कौन थे—वह किसी को नहीं जानती थी—

भीड़ में एक रौला-सा मच गया···एक औरत एक सफ़ेद-सी धोती पहने दौड़ रही थी—और उसके पीछे कितने ही लोग दौड़ रहे थे···

वह दौड़ती हुई सीधी नन्दा के पास आ रही थी—और उसके

पीछे दौड़ते हुए लोग भी···

नन्दा उसे पहचानती नहीं थी···पर उसके मुंह की आवाज़ उसने सुनी—"नन्दा ! नन्दा !"···

और फिर नन्दा के कानों में एक ज़ोर की चीख सुनाई दी—उस औरत ने नन्दा के पास आकर एक बार बड़े ज़ोर से उसका हाथ पकड़ा—पीछे-अपने पीछे आने वाले लोगों की ओर देखा—और नन्दा को हाथ से परे करके—वह आगे नदी की ओर दौड़ गई—

नन्दा···घबराकर उसके साथ दौड़ी—पर उसके पांव रेत में फँस गए—

और जब नन्दा ने सामने नदी की ओर देखा—वह औरत नदी के तेज़ पानी में गिरी हुई थी—और पानी की सतह पर सिर्फ़ उसकी सफ़ेद-सी धोती का कुछ हिस्सा दिखाई दे रहा था···

नन्दा के गले में उसकी चीख फँस गई···

किनारे पर अब सिर्फ़ नन्दा थी—दूर तक भी और कोई नहीं था···न जाने सब लोग कहाँ चले गए थे···

और सब तरफ़ अंधेरा उतरने लगा···

नन्दा रेत पर दौड़ रही थी—पर रेत खतम नहीं होती थी···

फिर देखा—नदी के परले किनारे पर परम खड़ा हुआ है। नन्दा ने ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ें दीं—परम···परम···परम···

पर नन्दा की आवाज़ शायद परम तक नहीं पहुँच रही थी···वह चुप अपने ध्यान में मग्न नदी के परले किनारे पर खड़ा रहा···

नन्दा ने दोनों हाथ ज़ोर से हिलाए—और गले के पूरे ज़ोर से आवाज़ दी—परम !

और फिर शायद—अपने गले में फँसी हुई अपनी आवाज़ के ज़ोर से ही—नन्दा की नींद टूट गई···

नन्दा ने रात के इस सपने को तार-तार जोड़ कर—और फिर तार-तार खोलकर—देखा, सोचा, और उसे लगा—इस सपने के सारे सिरे कल से जुड़े हुए थे।

"लाजवी ने बताया था कि उसकी माँ कृष्णा को लोगों ने ज़बरदस्ती···" नन्दा के अछूते कुँवारे शरीर में भय का, क्रोध का, और ज़हर का एक कम्पन-सा दौड़ गया।—"वह औरत जिसे मैंने नदी में डूबते हुए देखा—वह मेरी माँ थी···"

नन्दा कितनी देर तक कुछ सोचने के क़ाबिल नहीं रही—आँखों

के आगे नदी में बहता एक सफेद धोती का पल्ला छाया रहा···

पल्ला—जिसे न हाथ से पकड़ा जा सकता था—न आँखों के आगे से हटाया जा सकता था···

सवेरे का सूरज ऊँचा होता जा रहा था—नन्दा की खिड़की में से उजाले का एक टुकडा उसके कमरे में आकर—उसके कन्धे के पास खड़ा हो गया—जैसे हाथ से उसके कन्धे को हिला रहा हो···

नन्दा अपनी छाती के एक गहरे साँस के साथ हिली, और उसे ध्यान आया—वह रात को सपने मे परम को पुकारती रही थी···

इसकी व्याख्या-सी करते हुए नन्दा को लगा—रात सबने मुझे प्यार किया—अपनाया—रवि ने भी,···सिर्फ परम ने कुछ नहीं कहा। वह अपना ध्यान परे करके खड़ा रहा—गैर-सा।···मेरा उसी के साथ सबसे ज्यादा अपनत्व था—उसी के पास बैठकर—उसके कमरे में—मुझे यह घर अपना घर लगता था···पर वही, रात, इस तरह चुप था जैसे वह मेरा कुछ भी न हो···इस सारी बात से उसे कुछ नहीं हुआ···कल रात वह मुझे पहचान ही नही रहा था···शायद इसीलिए मैं रात को सपने में उसे पुकारती रही···

धूप का एक टुकड़ा—जो नन्दा के कन्धे पर खड़ा हुआ था—ऊपर होकर नन्दा के माथे के पास आ गया—जैसे आहिस्ता से नन्दा के माथे को चूम रहा हो···

१४

एक दिन और बीत गया। तीसरे दिन डाक्टर मदान लैक्चर टूअर से लौट आए। घर के माहौल में जैसे एक अगरबत्ती जल रही थी। रवि सबसे पहले बाहर जाकर टैक्सी में से पापा का सूटकेस उठा लाया। अन्दर आकर जोर से आवाज दी "माम। नन्दा! पापा आ गए।"

नन्दा पिछले कई बरस से—जब से वह जवान हुई थी—पापा की बाहों में कभी इस तरह नहीं लिपटी थी जैसे आज। आज उसकी छुटपन की आयु उसके अंगों में खेल रही थी। वह सोच के बल पर कुछ करती, न होता—यह एक मासूम जज्बे के बल पर था।

पापा कुछ हैरान थे, पर खुश।

रवि और अशोक के जाने का समय हो गया था। वह नाश्ता

कर चुके थे, चले गए। पापा चाय का प्याला पीकर कुछ आराम करने के लिए कमरे में चले गए। नन्दा की यूनिवर्सिटी में स्ट्राइक थी, उसे नहीं जाना था, वह रसोई में जाकर दोपहर का खाना बनाने लग गई।

आज बहुत-सा दूध ज्यादा रह गया था, नन्दा ने उसका पनीर बना लिया, मटर छीले, पर उसकी उंगलियाँ उसके दिल की तरह धड़क रही थीं—ध्यान पापा के कमरे की तरफ था—जहाँ शायद लाज बी उन्हें परसों वाली बात बता रही थी···

जानती थी—जो कुछ भी था, वह पापा के लिए बहुत पुराना था, नया कुछ भी नहीं था, सिर्फ़ उनके बच्चों के लिए उस सच्चाई का सामना नया था, और यह पापा को कैसा लग रहा था—नन्दा उनके मुँह पर सिर्फ़ यह देखना चाहती थी···

वह यह भी सोच रही थी—शायद वह लाज बीबी से कह रहे हों कि अभी बच्चों को इस सच्चाई से बचाना चाहिए था—ख़ास कर नन्दा को···पर नहीं—साथ ही नन्दा को ख़याल आया कि पापा को सवेरे का रवि का रवैया भी याद आ रहा होगा, और नन्दा की गलबाँही भी, और उन्हें लग रहा होगा—कि जो हुआ, ठीक ही हुआ और वह अपने आप को उस बात से भी बच्चों की तरफ़ से बरी समझ रहे होंगे जो किसी मजबूरी के कारण उन्हें किसी पुरी के आगे कहनी पड़ी थी···

और नन्दा का सिर—सामने पापा नहीं थे, पर उनके ख़याल के आगे इस तरह झुक गया जैसे ईश्वर के ख़याल के आगे झुक जाता है···

मन में उस आदमी का तसव्वुर भी आया जिसने कभी जबरदस्ती एक औरत को···, और फिर उस औरत से भी और उस बच्चे से भी इनकारी और इस आदमी का तसव्वुर भी आया जिसकी वह कुछ नहीं थी, पर जिसे वह हमेशा पापा कह सकती थी, और जिसने उससे पापा कहलवाने के लिए एक ऐसा गुनाह कबूल किया था जो उसने कभी किया नहीं था···

नन्दा को मालूम नहीं हुआ—पापा किस समय कमरे से आकर उसके पास रसोई में खड़े हो गए—और अब प्यार से उसके सिर को चूम रहे थे···

नन्दा की जीभ जैसे गूँगी हो गई—कुछ कहना चाहा—कुछ भी तो नहीं सूझ रहा था···

अचानक परम की आवाज आई—वह रसोई की दहलीज के पास खड़े होकर चाय माँग रहा था। नन्दा को कहने के लिए कुछ सूझ गया, "पापा ! परम मुझसे नहीं बोलता···"

और यह बात कहकर नन्दा को लगा—वह एक कठिन समय से सहज से गुजर गई थी···उसने इस एक शिकायत से—सारी उम्र के लिए पापा से कुछ माँग सकने का अपना हक जोड़ लिया था···

पापा ने परम की ओर देखा—जैसे जवाब तलब किया हो। पर परम हँस रहा था, "नहीं, पापा ! यह तो पागल है—आप ही कुछ सोच लेती है, फिर आप ही उसे मान लेती है···"

"पापा !" नन्दा को कुछ और भी कहने के लिए मिल गया, बोली पहले इसके कमरे में से कोई किताब ले आती थी तो यह मुझे चोर कहता था, आज मुझे पागल भी कहने लगा है···"

पापा हँस दिए, "अच्छा तू चोर, और यह पागल ठीक है ?" ···पापा ने जैसे दोनों शब्द दोनों में एक-एक बाँट दिए, और फिर अपने काम पर जाने के लिए तैयार हो गए।

परम ने नन्दा के पास आकर कहा, "अच्छा, एक प्याला चाय तो बना दो !"

नन्दा ने केतली हाथ में ली, फिर परे रख दी "पहले यह बताओ कि मैं पागल हूँ ?"

"हाँ"—परम ने सिर हिलाया, फिर हँस दिया, "चाय बनाकर ऊपर मेरे कमरे में दे जाना—" और नन्दा के जवाब का इन्तजार किए बिना वह ऊपर अपने कमरे में चला गया।

नन्दा ने चाय बनाई, केतली भरी, ट्रे में एक की जगह दो प्याले रखे, ऊपर परम के कमरे में ले गई, पर चाय मेज पर रखकर कहने लगी, "मैं पागल हूँ न, इसलिए आज एक प्याले में चाय पीने की जगह दो प्यालों में पीऊँगी। मैंने तुम्हारे लिए चाय नहीं बनाई, सिर्फ अपने लिए बनाई है"—और नन्दा एक प्याले में चाय डालकर वहीं मेज के पास खड़े होकर पीने लगी।

"चाय अपने लिए—पर कमरे में क्यों ?" परम ने कहा, और आराम से नन्दा के हाथ से नन्दा का प्याला छीनकर चाय पीने लगा।

"यह लो पकड़ो दूसरा प्याला, मेरी जूठी चाय क्यों पीते हो ?" नन्दा परम के इस तरह चाय पीने से हैरान अपनी जिद को भूल गई।

"अच्छा, नन्दू ! बी सीरियस—आज मुझे तुमसे एक बात करनी

है" परम अपने दीवान पर बैठते हुए नन्दा को बैठने के लिए कह रहा था।

नन्दा परम के मुँह से वही पुराना शब्द "नन्दू" सुनकर पिछले दिनों का शिकवा भूल गई, और चुपचाप जैसे परम ने कहा था—उसके सामने कुर्सी पर बैठ गई।

परम कुछ देर चुप रहा, फिर उसने उठकर मेज़ पर से एक ख़त खोलकर नन्दा को दिखाया, "डाक्टरेट करने के लिए मैंने अमरीका स्कालरशिप के लिए एक यूनिवर्सिटी को एप्लाई किया था—मुझे वह स्कालरशिप मिल गया है···"

नन्दा ख़त को पढ़ रही थी—पर कोई एक मिनट के बाद नन्दा को लगा—जैसे हाथ में लिए हुए ख़त की सारी लकीरों में उनकी स्याही गीली होकर ख़त पर फैलती जा रही थी···

परम कुछ देर नन्दा की ओर देखता रहा, फिर दीवान पर से उठकर नन्दा की कुर्सी के पास खड़े होकर, अपने रूमाल से नन्दा का मुँह पोंछने लगा, "तुम सचमुच पागल हो न, रो क्यों रही हो?"

नन्दा परम के हाथ को परे झटक कर, कुर्सी से उठी, पर उसे लगा—वह खड़ी भी नहीं हो सक रही थी, वह दीवान के पास नीचे फ़र्श पर बैठते हुए, दीवान पर सिर रखकर सुबक-सुबक कर रोने लगी···

"मेरी बात सुनो···" परम ने दीवान पर बैठते हुए, नन्दा के सिर पर इस तरह हाथ रखा कि नन्दा को लगा—अब वह जैसे अपने कैरियर की बातें सुना कर अपनी ख़ुशी ज़ाहिर करने वाला हो, और उसे भी ख़ुश होने के लिए कहने वाला हो···

पर वह ख़ुशी—जो नन्दा के अन्तर से नहीं आ रही थी—उसे सुननी भी कठिन लगी। तमक कर और दीवान से सिर उठा कर कहने लगी, "ठीक है, मैं तुम्हारी क्या लगती हूँ, जाओ जहाँ तुम्हारी मर्ज़ी···" और उसी साँस में और भी तमक कर बोली, "अब तुम्हें पता तो लग ही गया है कि मैं तुम्हारी कुछ नहीं लगती···"

परम हँसने लगा। और हँसते-हँसते कहने लगा, "सचमुच मुझे यह सुनकर बड़ी ख़ुशी हुई है कि तुम मेरी कुछ नहीं लगती हो।"

नन्दा का आँसुओं से गीला मुँह जैसे एकाएक आग की एक लपट से झुलस गया हो, वह हैरान परम के मुँह की ओर देखती रह गई···

"मैं बहुत अरसे से परेशान था—बहुत ही परेशान···" परम

किसी विचार में डूबता हुआ-सा कहने लगा।

"और अब इस खत को देखकर सारी परेशानी खतम हो गई···" नन्दा ने ज़बान में ज़हर भर कर कहा।

"हां—इस खत को देख कर भी और···" परम हँस दिया, "और यह जानकर भी कि तुम मेरी उस तरह की कुछ नहीं लगती हो जिस तरह की लोग सोचते थे···"

"क्या मतलब ?" नन्दा की पकड़ में कुछ भी नहीं आ रहा था।

परम ने उठकर दीवान के साथ उलटी टिकाई हुई एक कैनवस सीधी की, और नन्दा से कहने लगा, "देखो।"

नन्दा कैनवस की ओर देखने लगी—सामने परम का अपना चेहरा था जो एक दीवार पर पड़ी हुई दरार की तरह माथे से ठोड़ी तक कटा हुआ था और चेहरे के इन दो टुकड़ों को—उस पेंटिंग में—एक रस्सी से बांधा हुआ था···

नन्दा कैनवस के चेहरे से कभी परम के चेहरे की तरफ देखती, और कभी परम के चेहरे से उसके कैनवस के चेहरे की तरफ···

"एक दिन तुम कमरे में आई थीं, तब मैंने यह पेंटिंग छुपा ली थी, तुम्हें नहीं दिखाई थी, तब मैं इसे तुम्हें दिखा नहीं सकता था···" परम ने कहा।

"क्यों ?" नन्दा ने हैरान होकर पूछा।

"यह मेरा कानफ्लिक्ट था—मैंने अपने भीतर के कानफ्लिक्ट को इसमें पेंट किया था···" परम ने नन्दा का हाथ पकड़ कर उसे दीवान पर बिठा दिया, और आप भी उसके पास दीवान पर बैठकर कहने लगा, "नन्दू ! तब तुम मेरी नाजायज़ मुहब्बत थीं···फ़ारबिडन लव···"

बड़ी देर अँधेरे में खड़े रहने के बाद जैसे कोई सीधा सूरज के सामने खड़ा हो जाए, और उसके सिर को रोशनी का एक चक्कर आ जाए—नन्दा को कुछ उस तरह का हुआ। और उसने घबराकर परम की एक बाँह से अपना सिर लगाते हुए अपने मुँह को छुपा लिया।

परम ने नन्दा को अपनी बाँह में ले लिया, और अपने एक हाथ से उसके हाथ को पकड़ते हुए कहने लगा, "जब मैंने स्कालरशिप के लिए एप्लाई किया था—सिर्फ़ तुम से दूर जाने के लिए किया था—पर अब शायद मुझे इसकी किसी और वजह से ज़रूरत है···"

नन्दा से बोला नहीं गया। परम ने ही कहा, "अगर तुम्हें भी

मंजूर हो तो हम दोनों साथ वहाँ जा सकते हैं—तुम भी वहाँ पढ़ती रहना, मैं भी···"

नन्दा ने सिर ऊपर नहीं उठाया, सिर्फ कहा, "पर पापा और बीजी···"

परम ने हाथ से नन्दा का मुँह ऊपर किया, और कहने लगा, "देखो! हममें से कोई भी संस्कारों से छूट नहीं सकता। मैं भी नहीं—तभी तो यह पेंट किया था—और यह बात मुझे सारी उम्र किसी को नहीं बतानी थी, तुम्हें भी नहीं···पर अब उस रिश्ते का बन्धन नहीं है जिसमे यह खयाल भी गुनाह था···"

"पर पापा···बीजी···" नन्दा के मुँह से फिर निकाला।

"उनसे मैं खुद कह लूँगा···" और परम ने कहा, "तुम्हें याद है···उस दिन बीजी ने क्या कहा था?"

"क्या?"

"कि एक छोटा सच होता है, पर एक उससे बड़ा सच भी हो सकता है।" परम ने दिल की रगों में से एक गहरा साँस लिया, "तुम पापा की और बीजी की लड़की हो, यह सच है, पर मैं सिर्फ़ तुम्हें प्यार···यह उससे बड़ा सच है···"

और परम की संजीदगी ने नन्दा को अपने गले से लगा कर कहा, "पापा और बीजी अपने हाथ से सिर्फ़ एक छोटी-सी रस्म कर देंगे—हम और किसी को कुछ नहीं बताएँगे, और फिर कुछ बरसों के लिए हम यहाँ से दूर चले जाएँगे—और पापा लोगों को कुछ भी बताने या समझाने से बरी हो जाएँगे···"

नन्दा काँपती हुई-सी दीवान पर से उठी—कुछ देर उससे बोला नहीं गया, फिर, "परम···" नन्दा के गले में अड़ते हुए से कुछ शब्द उसके मुँह से निकले, "एक दिन मैंने कहा था—कौन जाने रोज कोई किताब, कोई पन्ना, कोई पंक्ति, या कोई विचार चुराती-चुराती किसी दिन सचमुच की प्रोमीथियस-ही बन जाऊँ··· आज बन गई हूँ न? —देखो! मैं देवताओं के घर से आग चुराकर ले आई हूँ···"

और नन्दा ने अपनी हथेली पर अपनी किस्मत की लकीर को इस तरह देखा मानो वह देवताओं के घर से चुराई हुई आग की लकीर हो···

परम ने नन्दा की काँपती हुई हथेली को अपने होंठों पर रख लिया।



और अब प्रस्तुत है अमृता प्रीतम का दूसरा उपन्यास

एक सवाल

"उठ दीप, मेरी तबियत ठीक नहीं है···

जगदीप माँ की आवाज सुनकर चौंक पड़ा। माँ उसके माथे को सहला रही थी और उसका मुँह पीला पड़ गया था। दस बरस का जगदीप आँखें मसलते हुए माँ के आलिंगन में चला गया।

"धीरे लाल, धीरे—मुझे बड़ी पीड़ा है···" माँ ने खाट की बाही को हाथ से कसकर पकड़ लिया—"फिर मैं शायद अपने हाथों तुझे कुछ खिला भी सकूँ कि न!···जा मेरे सूरज! कुएँ पर एक डुबकी लगाकर मेरे पास आ जा।" माँ काँपती हुई खाट की बाही से उठकर बैठ गई, फिर सामने दालान में रखी पीढ़ी पर बैठकर दूध बिलोने लग गई।

जगदीप कुएँ पर गया, लौटा, और फिर माँ के पास आकर कहने लगा, "तू ठीक नहीं माँ, तो चाची से दूध बिलोने को कह दो न!"

"चाची से ही कहूँगी लाल! आज तू घूँट-भर मेरे हाथों पी ले।"

पिछले तीन दिन से माँ को कोई पीड़ा उठी थी। गाँव के हकीम ने पहले हरीड़ दी, फिर दूध में घोलकर कोई पुड़िया दी, और अब

कल रात के समय कह रहा था : "मजीठे से डाक्टर को बुलवा लो, यह तो एक अजीब-सी बीमारी मालूम होती है।"

"माँ सदके, ले यह घूंट भी पी ले···।" माँ ने फिर कहा और दीप ने कटोरे में बच रहे घूंट को भी पी लिया।

माँ सच कह रही थी। इस क्षण के पश्चात् वह कभी पीढ़ी पर नहीं बैठी। खाट पर से उठकर बैठ जाना अब उसके बस की बात नहीं रही थी। दुपहर तक दीप का बापू घोड़ी पर जाकर मजीठे से डाक्टर ले आया। मजीठा उनके सोहियांकलाँ गाँव से कोई तीन कोस पड़ता था।

"मुझे तो रसौली का शक होता है, आप्रेशन के बिना और कोई चारा नहीं।" कोई आध घण्टा लगाकर डाक्टर ने कहा।

"मैं शहरों में रुलने के लिए नहीं जाऊँगी। कहीं नहीं जाऊँगी। मरूँगी तो अपने घर ही मरूँगी···।" दीप की माँ ने एक ही बात पकड़ ली।

"अच्छा, आज का दिन दवाई देकर देख लेते हैं।" मुझे कल सुबह ही इतलाह करना।" डाक्टर ने टीका लगाया, दवाई दी, और लौट गया।

कोई दो घण्टे माँ टिक गई। दीप सुबह से ही माँ की खाट के पास से हिला-डुला नहीं था। चाची ने आकर कहा :

"जा बेटा, खेल जाकर, माँ को कोई आँच नहीं आएगी।"

चाची असल में दीप की मौसी लगती थी। दोनों बहनें एक ही घर में ब्याही हुई थीं, दोनों भाइयों को। वह दीप की चाची कहलाती थी, पर उसका प्यार मौसी का था। दीप ने चाची के मुँह की ओर ध्यान से देखा। चाची के मुँह पर इतनी घबराहट नहीं थी। दीप ने सन्तोष की साँस ली और बाहर खेलने निकल गया।

जब साँझ होने पर दीप घर की दहलीज लांघकर अन्दर घुसा तो माँ की चीखें बाहर आँगन में सुनाई पड़ती थीं। दीप माँ की खाट की ओर भागा। चाची तवे पर से रुई सेंक-सेंककर माँ को टकोर कर रही थी, और दीप का बापू दवाई की खुराक कटोरी में डालकर माँ को देने लगा था।

दीप वैसे का वैसे दरवाजे के साथ लगा रहा, और माँ कोई आध घण्टा चीखों के साथ घुलती रही, फिर धीरे-धीरे पीड़ा सोती गई। और जब फिर माँ की साँस में साँस आई, कमरे के अन्धेरे को टटोलते

हुए माँ ने कहा : "मेरा दीप कहाँ है ?"

"यह रहा, वेचारा घण्टों से खड़ा है···" चाची ने दीप का हाथ पकड़कर माँ की खाट की ओर कर दिया।

"मेरा कमल फूल···तू रो क्यों रहा है, पागल है क्या, कुछ खाया भी है कि नहीं, जा चाची से लेकर दो कौर खा ले···।"

दवाई का नशा माँ के अंगों को चढ़ता जा रहा था, और फिर आधी से ज्यादा रात सोते हुए गुज़र गई। सवेरे का पहला पहर फिर माँ की चीखों के साथ चढ़ा—फिर पीड़ा का घण्टा जैसे सूइयाँ बीन-बीनकर गुज़ारा हो और फिर दवाई के नशे से माँ बेसुध हो गई।

अगली दुपहर को माँ ने दीप को बुलाकर कहा, "जा, जाकर नूरां की माँ को बुला ले, और कह जल्दी चली आए।"

नूरां का घर दूर नहीं था। दीप पिछले पैर लौट आया। पीछे-पीछे नूरां की माँ आ गई और साथ में सात-आठ बरस की नूरां भागी आ रही थी।

"मैं तो अभी नूरां की ननिहाल से लौटी हूँ, आते ही सुना कि शाहणी बीमार है, इतने में दीप जा पहुँचा। कहते हैं शहर से डाक्टर भी आया था। साईं! हमारी शाहणी को जरा भी आँच न आए···!" नूरां की माँ को सूझता नहीं था, और क्या कुछ कहे, उसकी आवाज़ रुंध गई।

"बेगम, दम का क्या भरोसा···अभी साँस आती है और अभी होश नहीं रहती···मैंने तेरी अमानत लौटानी है···!" दीप की माँ ने हाथ पकड़कर बेगम को खाट पर बैठा लिया।

"कैसी अमानत शाहणी, तुझे कुछ नहीं होगा···।"

"फिर भी बेगम···कोई लिखा-पढ़ी भी तो नहीं है···।"

"हमारी तो, शाहणी, दुनियाँ तेरे साथ आबाद है···।"

"इधर आ न दीप! यह ले चाभी···और पिछली कोठड़ी में से लोहे का सन्दूक खोलकर लक्कड़ का डिब्बा निकाल ले आ···!"

बेगम मना करती रही, पर माँ ने जगदीप के हाथ चाभी पकड़ा दी, और वह सन्दूक में से डिब्बा निकाल ले आया। माँ ने काँपते हाथों से डिब्बा खोला : "तेरी अमानत बेगम!"

"तेरे बिना हमारा कौन है शाहणी!" बेगम ने आँचल के किनारे से आँखें पोंछ लीं, और फिर कहा, "तुझे खैर-मेहर है शाहणी, मैं कुछ नहीं ले जाऊँगी, मुझे अल्लाह पर भरोसा है···!"

"न बेगम, फिर जिन्दा रही तो···!" माँ को फिर पीड़ा शुरू हो गई और जेवरों की पोटली बेगम के हाथ पकड़ाते हुए उसने कहा, "सब-कुछ अच्छी तरह से देख ले···और दीप, जा यह डिब्बा रखकर सन्दूक को बंद कर आ।···"

जगदीप ने वापस लौटकर जब माँ को चाभी पकड़ाई, तो पीड़ा से उसका छत को हाथ पड़ता था।

"मैंने सितारों से मढ़ा हुआ दुपट्टा दीप की बहू के लिए रखा था" और चाँदी के घुंघरुओं वाली पाजेबें···! मैंने उसका मुँह नहीं देखना था···! झिलमिलाती-सी मेरे दीप की बहू···छन-छन करती मेरे दीप की बहू···ऐसी मेरी किस्मत ही कहाँ बेगम···।" माँ की चीखें बढ़ती गईं और विलाप भी बढ़ता गया।

"मैं दुनियाँ की चीज़ें संभालती थी बेगम···आज अपनी चीज़ दुनियाँ को दिए जा रही हूँ···मेरी अमानत···मेरा दीप···।" माँ का दिल उसके ओठों पर बिलख रहा था।

जगदीप का बापू घोड़ी पर से उतरा, साथ में डॉक्टर आया था। माँ को पन्द्रह-पन्द्रह मिनट बाद टीका लगा और फिर चीखें मद्धम पड़ती गईं और माँ को दवाई का नशा चढ़ता गया।

"रो क्यों रहा है लाल···।" चाची ने आकर जगदीप को प्यार किया और कहा, "भगवान् का नाम ले, जाने उसके मन में तरस आ जाए···बच्चों की बात वह नहीं टालता···।"

"आ लाल, बाहर आ जा, शाहणी टिक गई है, शायद क्षण-भर टिकी रहे।" बेगम ने जगदीप का बाज़ू पकड़ लिया।

दीप वहीं-का-वहीं खड़ा रहा। वह ज़मीन उसे जैसे हिलने नहीं दे रही थी। बाहर आँगन में शाह ने डाक्टर के लिए खाट डाल दी। आज की रात शाह ने डाक्टर को अपने गाँव में ही रहने के लिए कहा था। सब औरतों को डाक्टर ने कमरे में से बाहर आ जाने को कहा।

"बच्चा मासूम है, गम खा जाएगा। उसे कहो बाहर जाकर खेले।" बेगम ने कहा।

चाची मिन्नतें करती रही; पर जगदीप ने बात अनसुनी कर दी। जगदीप के कानों में चाची का वह बोल अटका हुआ था : भगवान् का नाम ले, जाने उसके मन में तरस आ जाए···बच्चों की बात वह नहीं टालता।···और जगदीप ने सोचा, वह एक ही जगह पर खड़ा भगवान् की मिन्नतें किए जाएगा···

संध्या का अन्धेरा घिर आया। चाची ने कमरे में दीया जलाया। जगदीप वहीं-का-वहीं खड़ा हुआ था।

"लड़के को कुछ हो न जाए···पत्थर का पत्थर बना खड़ा है।" चाची ने बाहर आकर कहा। "मेरी तो बात सुनता नहीं, मिन्नतें कर रही हूँ···सवेरे से पानी का घूंट तक नहीं पिया···।" चाची ने फिर कहा।

माँ वैसे की वैसे बेसुध पड़ी हुई थी। जगदीप वैसे का वैसा दरवाजे की ओट में खड़ा था। फिर जगदीप को लगा, एक छोटे-से हाथ ने उसका हाथ खींचा। दोनों आँखें बन्द करके जैसे वह आराधना में खोया हुआ था। उसे लगा कि जैसे भगवान ने उसकी सुन ली थी। चौंककर उसने आँखें खोलीं। नूराँ उसका हाथ पकड़कर बाहर को खींच रही थी।

फिर बेगम चली गई। हाल-हवाल पूछने आए दूसरे लोग भी चले गए। चाची ने तंदूर में रोटियाँ सेंकी। किसी ने आधी खाई और किसी ने उससे भी कम, और चाची ने कमरे में से आकर कहा, "बहन की साँस अटक रही है···"

सब में भगदड़ मची हुई थी, पर चीखें अब सुनाई नहीं पड़ रही थीं। जगदीप को लगा : यूँ ही सब घबरा रहे हैं। अब तो माँ को कोई पीड़ा नहीं। मैंने भगवान् की बड़ी मिन्नतें की हैं···वह बच्चों की बात टालता नहीं···

न पीड़ा उठी, न चीखें सुनाई दीं। रात गहरी होती गई। जगदीप हैरान था, माँ को कोई पीड़ा नहीं थी, पर न डाक्टर सोता है, और न घरवाले सोते हैं। चाची की आवाज एक बार फिर सुनाई दी, "कोई-कोई साँस आ रही है अभी···।"

फिर जैसे सारे घर की चीखें आधी रात के सीने को चीर गईं। जगदीप ने देखा, सभी चीख रहे थे, पर उनमें माँ की चीख कोई नहीं थी। पूरा सप्ताह बीत गया था। माँ की चीखों से सब घबराते थे, जब कभी चीखें रुक जाती थीं, घरवाले सन्तोष की साँस लेते थे। आज माँ की चीखें रुक गई थीं, पर सारे घर के लोगों की चीखें निकल गईं।

"मेरे लाल···!" चाची ने आकर जगदीप को सीने से भींच लिया, "अब माँ तुझे कहाँ मिलेगी···।"

जगदीप की दोनों मुट्ठियाँ भिंच गईं, "भगवान् किसी की नहीं सुनता, बच्चों की भी नहीं सुनता···।"

सारे घर के लोग ऐसे पड़े हुए थे जैसे सीपों ने अपनो तह में लिपटा हुआ मोती खो दिया हो, और अब छिलकों की तरह धरती पर गिरी पड़ी हों।

गाँव की रीति थी, जिस घर का कोई मर जाए, उसके घर का चूल्हा ठंडा रहता था, घर की बहुओं के मैके वाले उस दिन की रोटी भेज देते थे। जो कौर किसीने खाना होता, खा लेता।

दीप की चाची जब रोटी देने चौके में गई, उसकी आले मे नज़र पड़ी। "बहन के हाथों की पकी हुई दो रोटियाँ···" पूरा सप्ताह बीत गया है, बहन ने जब अन्तिम बार तंदूर सुलगाया था। ये दो रोटियाँ बच रही थीं, उठाकर उसने आले मे रख छोड़ी थीं कि सुबह पद्मुमो को डाल देगी। फिर ऐसी भगदड़ मची कि किसीको होश ही नहीं रही। वहीं की वहीं पड़ी हुई हैं, सूखकर लकड़ी बन गई हैं··· इन्सान कहीं चल देते हैं, चीजें रह जाती हैं···।"

दीप के कान में चाची की आवाज पड़ी और वह आकर आले के पास खड़ा हो गया।

"कैसा मुँह उतर गया है, मेरे बेटे का···इधर आ, मैं तुझे रोटी दूँ···।" चाची ने कहा और थाली मे दीप को रोटी डाल दी। चौके में ही दीप के लिए मूढ़ा बिछा दिया। "खाता क्यों नहीं मेरे लाल···।" चाची ने खामोश बैठे दीप से कहा।

"खा लूँगा···तू जा···।"

चाची सबके लिए थाली परोसती गई और बाहर आँगन में सबके आगे रखती गई। सब अपने ध्यान मे लगे थे। दीप ने अपने आगे पड़ी थाली को अभी छुआ तक नहीं था। फिर दीप ने देखा, इस समय उसे कोई नहीं देख रहा था। अडोल उठा और आले में पड़ी दोनों रोटियाँ उठाकर उसने अपनी कमीज के नीचे छिपा लीं और फिर आँगन में से होता हुआ बाहर की गली मे खो गया।

गाँव से बाहर एक बहुत बड़ी बेरी थी। दीप जैसे वहाँ पहुँचने के लिए उतावला-सा हो रहा था। दीप ने कमीज के नीचे ढकी रोटियों को बाज़ू से दबाकर जोर से भींच रखा था, और फिर वह बेरी के नीचे पहुँच गया। दोनों रोटियाँ उसने कमीज के नीचे से निकाल ली, और बेरी की जड़ का सहारा लेकर वह बैठ गया। अँधेरा सघन था,

दीप रोटियों की ओर देख रहा था। अँधेरे में उसे दिखाई नहीं देता था, पर वह देखता रहा, देखता रहा···

फिर दीप को लगा, वह संध्या नहीं थी, दुपहर का समय था और वह अपने हमजोलियों के साथ मिलकर बेरी पर से लाल बेर झाड़ रहा था। बेर झाड़-झाड़कर उसने हमजोलियों की झोलियाँ भर दीं, और बेर चुन-चुनकर उसकी अपनी झोली भी भर गई।

माँ की आवाज सुनाई दी : सुबह से बिना कुछ खाए-पीए निकला हुआ है। माँ मरे, रोटी तो खा ले···!

और सब लड़कों से परे ले जाकर माँ ने उसे बेरी के नीचे बिठा लिया। फिर माँ ने अपना दुपट्टा उतारकर उसके सिर पर दे दिया, और मक्खन से चुपड़ी हुई रोटी उसके आगे रख दी···

दीप ने रोटी का कोर तोड़ा, रोटी मक्खन की तरह उसके मुँह में घुल जाती थी। जाने आज क्या हुआ था, लकड़ी के टुकड़े की भाँति रोटी उसके मुँह में चुभने लग गई···

हाथ से दुपट्टा परे करके जैसे दीप ने माँ से कुछ पूछना चाहा।

"मैं हूँ दीप···।" नूरां की चुनरी ढिलककर दीप के मुँह पर आ पड़ी थी, नूरां ने हाथ से परे सरका दी।

"तू···?"

"मैं नूरां हूँ···"

"माँ कहाँ है ?"

"··········"

नूरां खामोश हो रही और फिर कहने लगी :

"तू रो रहा है !"

"नहीं तो···।"

"रो तो रहा है।"

"माँ कहाँ है ?"

"··········"

नूरां फिर खामोश हो रही।

"तू कहाँ से आई है ?"

"तुझे मैंने इधर आते हुए देखा था। तू इतने अँधेरे यहाँ क्यों आया है ?"

"यहाँ अभी माँ भी आई थी।"

"यहाँ ?"

"हाँ, मैंने खुद उसे देखा है उसने मेरे सिर पर दुपट्टा दिया था···और···"

"तू पागल हो गया है दीप ?"

"नहीं तो···।"

"यह झोली में क्या रख छोड़ा है ?"

"रोटी।"

"रोटी ?" और नूरां ने हाथ लगाकर देखा, लकड़ी के टुकड़ों की तरह दो सूखी रोटियाँ थीं।

"कहाँ से ले आया यह ?"

"घर से···।"

"इतनी सूखी हुई ?"

"चाची कहती थी कि ये माँ के हाथ की पकी हुई है।"

"तूने आज रोटी नहीं खाई ?"

"अभी माँ ने दी थी, खाने बैठा था······फिर······।"

"तू पागल हो गया है !"

"नहीं तो···।"

"माँ तो मर गई।"

"माँ को मैंने अभी देखा था···।"

"ऐसे ही तुझे वहम है दीप—यहाँ आकर माँ तुझे रोटी खिलाया करती थी न, दुपट्टे से ढंककर···।"

दीप ने फिर कुछ नहीं कहा।

"तूने आज रोटी नहीं खाई न ?"

दीप ने कुछ जवाब नहीं दिया।

"मुझे पता है कि तूने कुछ नहीं खाया," और फिर नूरां ने झिझकते हुए कहा, "तू मेरे हाथ की रोटी खा लेगा ?···हमारे घर की···।" और नूरां ने अपने आँचल में बाँध रखी नर्म-सी रोटी निकाल ली, "माँ कोठे पर से ईंधन संभालने में लगी हुई थी कि मैं चंगेर में से रोटी निकालकर ले आई।"

जगदीप उसी तरह बेरी का सहारा लिए हुए बैठा था, उसने एक बार मुँह उठाकर नूरा की ओर देखा।

"तू तो रो रहा है···?" अंधेरे में से भी नूरां को दीप का भीगा हुआ मुँह दिखाई पड़ गया, और वह दीप के पास बैठ गई और उसने अपने आँचल से दीप का मुँह पोंछा।

"थोड़ी-सी रोटी खा ले···।"

दीप ने कौर तोड़ा और मुंह में डाल लिया।

"किसी को बताना नहीं, नहीं तो तुझे मार पड़ेगी, और साथ मुझे भी···।'

"क्यों ?"

"हम मुसलमान हैं न।"

"तो फिर क्या हुआ ?"

"कहते है, खुदा रूठ जाता है।"

"खुदा कोई नहीं होता।" दीप ने दूसरा कौर भी तोड़ लिया।

"इस तरह से नहीं कहते।"

"क्यों ?"

"खुदा रूठ जाता है।"

"तो रूठ जाए।"

"फिर तू वही कहने लगा!"

"जानता हूँ, खुदा कोई नहीं।"

"तुझे कैसे मालूम है ?"

"वह होता तो मेरी न सुनता ?"

"तूने उसे क्या कहा था ?"

"मैंने उसे कहा था कि मेरी माँ को न मारना।"

"तूने उसे कब देखा था ? वह दिखाई थोड़े ही देता है!"

"पर क्या उसे सुनाई भी नहीं देता ?"

"मैं क्या जानूं।"

"फिर दोनों खामोश हो रहे। कौर-कौर करके दीप ने नूरां की खाई हुई रोटी खा ली।

"इन रोटियों का क्या करेगा ?" फिर नूरां ने दीप की झोली में पड़ी दो सूखी रोटियों को हाथ में लेकर कहा।

"खाऊँगा।"

"ये खाई थोड़े ही जाएँगी।"

"टुक-टुककर खा लूंगा।"

"नहीं दीप।"

"फिर ?"

"इन्हें बो दें।" नूरां ने सोच-सोचकर कहा।

"रोटियाँ भी कभी उगी हैं नूरां ?"

"रोटियाँ तो नहीं उगती, पर साथ हम बेरों का बीज डाल देंगे, या ग्राम की गुठली लगा देंगे···फिर बेरों में रोटियों का रस आ जाएगा···।"

"बात तो ठीक है नूरां···।' दीप जैसे उछल पड़ा और कहने लगा, "चल फिर बोएँ।"

"अभी कैसे बोएँगे ?"

"एक गढ़ा खोद लेते हैं।"

"खुर्पा तो कोई नहीं है।"

"मैं हाथों से खोद लूँगा।"

"बीज भी तो नहीं है, ग्राम भी नहीं···।

"बरगद की टहनी तोड़कर लगा लेते हैं।"

"पर उसका फल क्या खाएँगे ?"

"न सही, बड़ा होगा, तो उसकी छाया बन जाएगा।"

"अच्छा।"

"चल फिर गढ़ा खोदें।"

"चल, ऊपर से सावन का महीना भी आ रहा है, परसों माँ कहती थी कि बारिश के मौसम में बीज डालें तो वह बहुत जल्दी उग आता है।"

"कौन-सी जगह अच्छी है नूरां ?"

"जो तू कहे।"

"नहीं, जो तू कहे।"

"धर्मशाला के पिछवाड़े में बड़ी जगह पड़ी है।"

"वहाँ मैं नहीं जाऊँगा।"

"क्यों ?"

"वहाँ लोग भगवान् का नाम लेते हैं।"

"फिर क्या हुआ।"

"मैं उसका नाम नहीं सुनूँगा।"

"फिर तू ही बता, कहाँ बोएँ ?"

"तेरे घर के पीछे भी तो बहुत जगह है।"

"है तो सही।"

"चल, वहीं चलें।"

"चल···मैं वहाँ पानी भी रोज दे दिया करूँगी।"

जगदीप ने एक बरगद से उसकी वह शाखा तोड़ ली जिसकी गाँठें

फूटी हुई थी। नूरां ने दोनों रोटियाँ उठा ली और दोनों जब नूराँ के घर के पीछे आए तो नूरां ने कहा—"तू यहीं खड़ा रह। मैं भागकर घर से खुर्पा ले आती हूँ और साथ पानी का डोल भी।"

३

छोटा-सा बरगद तीन बरस का हो गया था, नूरां ग्यारह और जगदीप तेरह बरस का।

एक दिन दीप की चाची सूत अटेर रही थी। लोहे की दो सलाखों में टँके हुए दो पिन्ने पीतल की छलनी मे गिट्टियों की तरह खेल रहे थे और दोनों की तारों को अटेरन पर लपेटते हुए चाची ने एक लम्बा गीत छू दिया।

उडदा वे जावीं कावा, वहिन्दड़ा जावीं वहिन्दा जाईं मेरे पेकड़े।
इक ना दसी मेरी माँ राणी नूँ रोवेगी गुडीआँ फोलके
इक ना दसीं मेरे बाप राजे नूँ रोवेगा कचहरी छोड़के
इक ना दसी मेरी भैण सोहणी नूँ रोवेगी त्रिंजण छोड़के[1]

और फिर गीत गाती चाची की आवाज़ रुँध गई। सामने दीप और उसका अपना बेटा हीरा स्कूल से आकर बस्ते रख रहे थे।

और जब चाची ने दोनों बच्चों की थालियों में रोटी डाल दी, चाची का गला रुँध गया।

"क्यों चाची, तेरी तबियत ठीक नहीं है ?"

"मैं ठीक हूँ दीप।"

"नहीं चाची, कुछ तो बात ज़रूर है।"

चाची का दिल उछल आया और दीप ने रोटी छोड़ दी।

"तू रोटी खा ले, फिर बताऊँगी।"

"नहीं चाची, पहले बताएगी तो रोटी खाऊँगा।"

"नहीं, पहले रोटी खाएगा तो बताऊँगी।"

दीप ने बात मान ली और रोटी खा ली।

---

१. अरे कौए! तेज़ी से उड़ते हुए तुम मेरे मायके जाना (और यह अशुभ सन्देश पहुँचाना) पर मेरी प्यारी माँ को न बताना, नहीं तो वह गुड़ियाँ टटोलकर रोने लगेगी, मेरे प्यारे बाप को भी न कहना, नहीं तो वह कचहरी छोड़कर रो पड़ेगा और मेरी प्यारी बहन को भी न बताना, नहीं तो वह सहेलियों के झुण्ड से अलग होकर रोने लगेगी।

"अच्छा, अब बता।"

चाची का दिल फिर उछला और फिर दीप को अपनी झोली में बैठाकर कहने लगी—"तेरा मामा एक साल से मिन्नतें कर रहा है कि तू उसके पास शहर में जाकर पढ़।"

"अच्छा..."

"यहाँ तुझे तीन कोस का फासला तय करके स्कूल जाना होता है, धूप में आते हुए मुँह आधा रह जाता है। अब कौन-सी जमात है तेरी?"

"नवमी जमात है चाची।"

"तू शहर जाकर क्यों नहीं पढ़ता? लाहौर कहते हैं बहुत ही अच्छा शहर है। मुझे तो भैया ने कितनी बार बुला भेजा है, मुझसे जाना नहीं हुआ, हो सकता है, तेरे बहाने से मैं भी कभी आ निकलूँ।"

"तू कहती है तो मैं शहर चला जाता हूँ..." और फिर दीप चाची के साथ लिपट गया, "फिर मैं चाची को रोज़-रोज़ कहाँ मिलूँगा, मुझे चाची जैसी रोटी पकाकर कौन खिलाएगा?"

"मैं मरूँ...दीप..." चाची के भीतर से जैसे एक माँ बोल उठी थी, "तू मेरे हाथ की कितने दिन खाएगा...।"

"क्यों चाची?"

"सुना है...।" चाची आगे कुछ न कह सकी।

"क्या चाची?"

"सुना है शाह जी...तेरी नई माँ आ जाएगी दीप!"

"नई माँ..." दीप आगे कुछ नहीं बोला। अब वह समझदार हो गया था।

"दोनों भाई अलग-अलग हो रहे हैं दीप! शाह जी का चौका अलग और हमारा अलग...।"

दीप कुछ नहीं बोला।

"मामी भी तो माँ के समान होती है...अगर तू शहर जाकर पढ़ेगा, वहाँ आदमी बन जाएगा। यहाँ गाँव में तो आदमी मिट्टी के साथ मिट्टी होकर रह जाता है...।"

"अच्छा चाची।"

"एक बात और है दीप।"

"क्या चाची।"

"तेरी माँ के कपड़े मैं किसीको नहीं पहनने दूँगी। मेरी बहन के

कपड़े···।"

दीप खामोश हो रहा।

"कितने अरमानों से उसने सुच्चे कपड़ों का बक्सा भर रखा था, कोई कनारी तो कोई तिल्ले वाला। एक दुपट्टा तो सिर्फ सितारों से जड़ा हुआ है। कहा करती थी : "मैंने सितारों से जड़ा हुआ दुपट्टा अपनी बहू के लिए रख छोड़ा है···झिलमिलाती मेरे दीप की दुल्हन ···और शाह भले ही एक क्या सात औरतें ले आए, मैं किसी भी मनहूस को हाथ नहीं लगाने दूँगी।···तेरे चाचा से कहकर मैंने बक्से की चाबी ले ली है, इस चाबी को संभाल ले दीप···।"

"मैं क्या करूँगा चाची, तू ही रख छोड़।"

"तेरी अमानत है दीप।" और चाची ने दीप का माथा चूम लिया।

उसी रात को दीप के चाचा ने माई से कहकर लाहौर दीप के मामा को पत्र डाल दिया। दीप ने अपनी पुस्तकें और कपड़े संभाल लिए। पिता ने दीप के लिए दो नई कमीजें और दो नये पायजामे सिला दिए।

अगली रात दीप ने एक सपना देखा। उसने और नूरां ने मिलकर जो बरगद का पेड़ लगाया था, अब वह कोठे जितना ऊँचा हो गया था। नर्म और सघन पत्ते, एक-दूसरे के साथ खूब सटे हुए। दीप उस बरगद के नीचे अकेला बैठा हुआ था, और फिर किसी के पैरों की छन···छन···छन सुनाई देने लग गई···दीप ने चौंककर देखा—एक परी उसके सामने खड़ी थी···दीप की आँखों में चकाचौंध पैदा हो गई, परी ने सितारों से जड़े कपड़े पहन रखे थे···और फिर वह खिलखिलाकर हँस दी।

"—तू नूरां है?"

"—और दीप, तू डर गया था?"

"—तू परी क्यों बन गई थी?"

"—मेरा दिल हुआ···।"

नूरां की हँसी ने दीप की नींद खोल दी और दीप ने देखा—न तो वहाँ बरगद था, न नूरां और न सितारों जड़े कपड़े। वह आंगन में अपनी खाट पर पड़ा था।

अगली किसी सवेर को दीप का मामा आया, और उससे अगले दिन दीप को गाँव से चल देना था। साँझ के समय दीप नूरां के घर

पर गया। बेगमाँ चाची को मिला, नूरां से मिला, और फिर दोनों पानी का मटका भरकर अपने बरगद को सींचने लग गए।

"तू शहर क्यों जा रहा है दीप ?"

"वहीं पढ़ूंगा।"

"तू जब पढ़ जायेगा दीप, फिर हमसे बात भी नहीं करेगा।"

"क्यों तो ?"

"फिर तुझे हमारी बातें पसन्द ही नहीं आएँगी···।" नूरां की रंगी हुई चुनरी पर अबरक लगा हुआ था, और दीप ने उसकी चुनरी मरोड़कर कितना-सा अबरक झाड़ दिया।

"नूरां !"

"मेरी चुनरी का अबरक उतार दिया तूने।"

"मैंने सोचा था कि तेरी चुनरी में सितारे लगे हैं।"

"हाँ, तुझे दिन में भी सितारे नजर आते हैं···।"

"और फिर दोनों खिलखिलाकर हँस दिए।"

"तू बरगद को पानी दिया करेगी ?"

"तुझे क्या, चाहे दूँ या न दूँ।"

"अच्छा मुझे कुछ नहीं ?"

"तू शहर जा, तुझे क्या गाँव के बरगद से, चाहे सूख जाए, चाहे जल जाए···।" नूरां के बाल-सुलभ मुँह पर जवानी का यह पहला उलाहना था।

अगली सवेरे को जगदीप अपने मामा के साथ शहर चला गया।

४

जगदीप को मामा ने नवमी में दाखिल करा दिया। शहर में स्कूल में जाने का पहला दिन जैसे उम्र-भर के लिए जगदीप के दिल पर एक खरोंच डाल गया। जमात के लड़के एक-दूसरे को कान में खुसर-पुसर करते, फिर जगदीप की तरफ देखते और फिर खिलखिलाकर हँस देते। जगदीप को लड़कों की आँखें अपने मुँह पर चुभती थीं। घंटा, दो, तीन गुज़रे, जगदीप का दिल करता था कि वह स्कूल से भाग जाए, शहर से ही चला जाए, कहीं चला जाए।

ड्राइंग की घंटी थी। जिस समय आध घंटा लगाकर लड़कों ने अध्यापक को कापियाँ दीं, उसने देख-देखकर जगदीप की कापी अलग

रख ली और फिर जगदीप को पास बुलाकर उसकी पीठ थपथपाई। लड़कों के मुँह पर से हँसी गायब हो गई। सुबह से स्कूल आए हुए जगदीप के लिए यह पहला क्षण था, जिस समय उसने एक खुली साँस ली।

ड्राइंग का समय खतम हुआ और जिस समय लड़के जमात से बाहर आए, खुसर-पुसर फिर शुरू हो गयी और जगदीप को लड़कों की आँखें फिर अपने मुँह पर चुभने लग गयीं। दूसरे दिन स्कूल जाते समय फिर जगदीप के पैर लड़खड़ाए थे, पर वह बे-मन-सा स्कूल चला गया। लड़कों के व्यवहार में आज भी वही चोट थी। जगदीप का दिल जैसे बुझने लग गया।

ड्राइंग की घंटी फिर हुई और आज अध्यापक ने जगदीप की कापी बोर्ड पर लगाकर सब लड़कों को दिखाई। लड़कों की हँसी कल की भाँति आज भी क्षण-भर के लिए रुक गई। जगदीप ने एक साँस ली, पर भीतर से उसका दिल अब भी बुझा जा रहा था। बात उसकी समझ में पड़ती नहीं थी और उसका अकेले बैठकर रोने को दिल होता था।

घंटी के खतम होने पर लड़कों की खिलखिलाहट फिर शुरू हो गयी। जगदीप रुआंसा-सा होकर बोर्ड पर से अपनी कापी उतारने लग गया।

लड़के बाहर चले गए और अध्यापक ने जगदीप को अपने पास बुला लिया। "तेरा हाथ बड़ा सीधा है। अगर मैं तुझे बहुत-सा काम दूँ तो मेहनत करेगा?"

जगदीप से कुछ बोला नहीं गया। अध्यापक की बात ने जैसे उसकी पीड़ा को और छेड़ दिया था। "अगर तू मेहनत करे, तो किसी दिन कलाकार बन आएगा।"

जगदीप के पल्ले जैसे कुछ नहीं पड़ा, पर उसके भीतर से एक धुआँ उठा। सब लोग इस शहर में पराए थे। वह इस शहर में भूल से आ गया था। लोग उसे देख-देखकर हँसते थे। पर इस समय एक आदमी था, सिर्फ एक, जो हँस नहीं रहा था।

अध्यापक ने उसका दिल टटोल लिया और बड़े प्यार से उसे अपने पास स्टूल पर बैठा कर पूछा, "तेरा शहर में दिल नहीं लगा?"

"मैं स्कूल में नहीं पढ़ूँगा।" जगदीप के होंठ काँपने लग गए।

"अच्छा, मैं तुझे एक बात बताऊँ—कल सफेद पायजामा पहनकर आना, यह लकीरों वाला पायजामा न पहनना।"

जगदीप को बात समझ नहीं पड़ी। वह अपने पायजामे की ओर देखने लग गया। बिलकुल नया पायजामा था।

"शहरों में लकीरों वाला पायजामा सिर्फ रात को पहनते है, सोने के समय। दिन में नही पहनते। इससे लड़के तेरी हँसी उड़ाते हैं।··· तेरा काम सबसे अच्छा है, तू सारी जमात से आगे रहेगा, फिर देखना।"

जगदीप के बुझे जा रहे दिल में एक चिंगारी भर गयी। उससे कहा कुछ नही गया, पर जब उसने अध्यापक की ओर देखा, उसकी आँखों मे एक ही वादा था : जितना कहोगे, मेहनत करूँगा, जितना कहोगे···'

डेढ़ बरस बीत गया। जगदीप ने मैट्रिक पास कर ली। और जब मामा ने उसे कालिज में दाखिल कराना चाहा, जगदीप ने एक निर्णय के लहजे में कहा कि वह आर्ट-स्कूल में दाखिल होगा। मामा की यह इच्छा थी कि उनके कुनबे में से कोई लड़का बी० ए० पास हो। उसे जगदीप पर बड़ी आशाएँ थी, पर जगदीप की बात ने जसे उसका दिल तोड दिया था। गाँव से शाहजी की चिट्ठी भी आई थी कि तस्वीरें बनाना सीखकर आखिर जगदीप क्या करेगा? या तो वह कालिज में पढ़े, कभी अफसर बनेगा; और या गांव लौटकर अपनी जमींदारी का काम करे।

जगदीप के पास सिर्फ एक ही सहारा था—अपने स्कूल का ड्राइंग मास्टर। उसके पास जाकर जगदीप ने अपना दिल खोला, और साथ ही उसे कहा कि वह किसी तरह उसके मामा को समझा दे।

कोई तीन दिन की बहस के बाद मामा बे-मना-सा होकर जगदीप को आर्ट-स्कूल में ले गया। "ले यह क्या है गोल्ड-स्मिथी सुनार का काम! यह ब्लैक-स्मिथी लोहार का काम! यह कारपेंटरी बढ़ई का काम! यह टैक्सटाइल डिजायन, जैसे हमारे गाँव में छापा टेकते हैं···" मामा कह रहा था। जगदीप मुस्करा रहा था, और "क्ले-माडलिंग" की ओर आकर मामा ने कहा, "जैसे कुम्हार बर्तन बनाता है···दीप। मगर इतने बरस लगाकर बाद में लोहार-बढ़ई ही बनना है···"

"आप क्यों चिन्ता करते हैं मामा जी, मैं कमर्शल पेन्टिंग लूँगा।"

"बाद में लोगो के बोर्ड ही बनाएगा न···।"

मामा का दिल बुझ गया था। जगदीप ने आगे कुछ नही कहा, और कमर्शल पेन्टिंग की जमात में अपना नाम दर्ज करवा दिया।

५

गाँव से शाह जी के दो-तीन खत आए थे कि अब उनकी सेहत ठीक नहीं रहती और जगदीप छुट्टियों में आकर उनसे मिल जाए। चाचा का खत भी मिला था और उस खत में चाची ने लिखवाया था —"इतना ही निर्मोही हो गया है, फिर मुँह भी नहीं दिखाया।"

जगदीप ने पिछली छुट्टियों में भी सोचा था कि वह गाँव जाएगा। कितनी बार उसने इरादा किया, पर वह जब भी बक्से में कपड़े रखने लगता, उसके दिल में एक हूक उठती। उसने सुना था कि अब उनके सहन में एक ऊँची दीवार बन गई थी। एक ओर चाची रहती थी, दूसरी ओर नई शाहिणी। कहते हैं, उसके पिता ने धर्मशाला में फेरे लेकर एक औरत घर बिठा ली थी और सब उसे छोटी शाहणी कहते थे।

जगदीप जब गाड़ी पर सवार हुआ, जाने कितनी देर उसे अपने घर के सहन की दीवार नजर आती रही।···और फिर दीवार के स्थान पर बरगद के पत्ते झूलने लगे···गाड़ी उसे गाँव के समीप लिए जा रही थी।

वह पिता के पैरों पर झुका। चाचा से आलिंगनबद्ध हुआ। और फिर चाची ने आकर दीप को बाँहों में बाँध लिया।

"कितना जवान निकल आया है···"

"तू तो चाची, दुबली हो गई है।"

"और मेरे अब जवान होने के दिन हैं क्या!"

"हीरा कहाँ है?"

"अभी कुएँ से आता ही होगा, बड़ा लम्बा निकल आया है, तेरे कन्धे तक आता है···"

"और चाची···!"

"चल तुझे छोटी शाहणी के पास ले चलूँ···बाहर नहीं आती थी, तुझसे डरती है।"

"मुझसे?"

"छोटे घर की बेटी है, बड़ी डरती-सी रहती है।"

जगदीप के मन पर पड़ा बोझ जैसे चाची ने हलका कर दिया और उसने भीतर जाकर छोटी शाहणी के पैर छुए।

"तू जुग-जुग जीए दीप!" और छोटी शाहणी ने झिझकते हुए

दीप की पीठ पर हाथ फेरा। "तू मुझसे नाराज है?" छोटी शाहणी ने धीमी सी आवाज में कहा।

"नहीं तो···" दीप जैसे चौंक पड़ा।

"तू गाँव क्यों नही आता था?"

"सोचता था—कुछ पढ़ लूँ, कुछ सीख लूँ।" दीप ने कहा, पर वैसे वह हैरान था—उसे ऐसे सवाल की आशा नही थी।

"मेरा तो कोई कसूर नहीं दीप?" छोटी शाहणी ने फिर धीमे से कहा।

"नही तो···" जगदीप ने फिर एक बार हैरान होकर छोटी शाहणी की ओर देखा।

पिछले कई बरस जगदीप छोटी शाहणी को मिलने से डरता-सा रहा था, पर आज उसने देखा कि शायद उससे भी बढ़कर नई शाहणी डरती रही थी।

जगदीप ने खाया-पीया और फिर दो घंटे आराम करके कहने लगा।

"घड़ी-पल बाहर हो आऊँ।"

"अभी तो सिर पर धूप है, थोड़ी देर बाद चले जाना दीप!" छोटी शाहणी ने बड़े प्यार के साथ कहा। अगर माँ होती तो दीप उसकी बात टाल देता, पर छोटी शाहणी की बात वह न टाल सका। और खाट पर लेटा रहा।

"हाँ, सच! नूरां दो बार आई थी, तू सो रहा था।"

"नूरां?"

"भूल भी गया? कहते हैं तू जब छोटा था, उसके साथ खेला करता था।"

"नूरां आई थी?"

"दो बार होकर गई है।"

"मुझे जगा देना था!"

"मैंने कहा, थका होगा। साथ ही वह झिझकती बहुत थी। अब तू बड़ा हो गया है न!"

"अच्छा मैं चाची बेगमां के घर हो आऊँ।" और जगदीप उठकर बैठ गया।

"चाची···चाची बेगमां···।" जगदीप ने द्वार खटखटाया।

"मैं सदके जाऊँ···।" बेगमां को चाव चढ़ गया।

"कैसी है तू चाची ?"

"तुझे देखकर अच्छी हूँ दीप! रुक ज़रा, मैं खाट पर चद्दर डाल दूं।"

"पहले तो जैसे चाची तू चद्दरें ही बिछवाया करती थी, अब मैं कोई और तो नही हो गया!"

"अब तू बड़ा हो गया है। कहते हैं अब तू बहुत अच्छी तस्वीरें बना लेता है।"

"तेरी तस्वीर बनाऊँ चाची ?"

हम बूढ़ों की क्या तस्वीर बनाएगा—अब तो मुँह पर झुर्रियाँ भी पड़ने लगी हैं।"

"और मैं झुर्रियाँ भी बना दूँगा।" दीप खुलकर हँस पड़ा।

"बता, मैं क्या रखूं तेरे आगे···"

"जो पका-पकाया है वही खाऊँगा।"

"मेरे घर का पका हुआ तू खा लेगा भला ?"

"कभी खिलाया भी है चाची ?"

"मैं जैसे खिलाती और तू खा भी लेता!"

"खा क्यों नहीं लेता, तू खिलाती ही नहीं है। नूरां मुझे खिला देती थी, मैं खा लेता था।"

"चल···!"

चाची बेगमां ने अभी 'चल···' कहा ही था कि खिड़की के पीछे से खिलखिलाकर हँसने की आवाज़ आई।

"नूरां को कहाँ छिपा रखा है चाची ?"

"यह देख, खिड़की के पीछे खिलखिलाकर हँस रही है···बाहर आ री, वही दीप है, कोई और तो नहीं बन गया।" और माँ नूरां की बाँह पकड़कर बाहर ले आई।

"कोई घर पर आए, तो ऐसे करते हैं ?"

"जैसे मैं तेरे घर से होकर ही नहीं आई हूँ। दो बार गई थी।"

"तो मुझे उठाया क्यों नहीं ?"

"मैंने कहा, जाने गुस्सा कर बैठे।"

"तेरे साथ कैसा गुस्सा ?"

"गुस्सा ही तो था, तभी तो गाँव आता नहीं था।"

"तूने कभी बुलाया मुझे ?"

"क्यों भला ?"

अब दीप के पास कोई जवाब नहीं था। नूरां ने कभी खत नहीं लिखा, कभी सन्देश नहीं भेजा, फिर भी वह कैसे कह सकता था कि उसने कभी बुलाया नहीं था। ढीठों की तरह दीप ने कहा, "मुझे कौन-सा खत लिखा था!"

नूरां ने कुछ नहीं कहा, पर नूरां ने जिस निगाह से देखा, उससे दीप के बोल लज्जित हो गए।

"बरगद मे पानी दिया करती थी?"

"तुझे क्या?"

दोनों हँस दिए जैसे समझौता हो गया हो।

"जा, दिखला इसे, पानी तो दिन में दो-दो बार दिया करती थी।" माँ ने कहा और फिर दीप की ओर मुँह करके कहने लगी, "मैं कहूँ कि जा, पानी का एक मटका ले आ, मेरी बालस्नानमुनी कर देती थी। और बरगद को दो-दो मटके पानी दे डालती थी।"

नूरां और दीप जब घर के पिछवाड़े बरगद के नीचे गए तो दीप ने बरगद के नर्म पत्तों को हाथों में लेकर कहा—

"तेरा बरगद कितना बड़ा हो गया है।

"जैसे तेरा नहीं है।"

दीप ने आँखें बन्द कर लीं। एक बार उसे लगा—बरगद की सघन छाया में माँ के हाथों की छाया मिली हुई थी। वह रात दीप की आँखों के आगे आई जब वह पल्ले में माँ के हाथों की दो रोटियाँ रखकर बेरी के नीचे बैठा हुआ था···माँ के ऊपर का दुपट्टा···नूरां की चुनरी···

फिर नूरां की चुनरी में सितारे लगते गए···दीप ने चौंककर पूछा, "नूरां! अगर तू सिर पर सितारों वाली चुनरी ओढ़ ले, मैं तेरी एक तस्वीर बनाऊँगा।"

"सितारों वाली चुनरी तो मेरे पास कोई नहीं।" नूरां ने धीमे से कहा।

जगदीप को माँ का सन्दूक याद आया, और चाची के पास रखी हुई उसकी चाभी।

"मैं चुनरी ला दूँ तो···?"

"कहाँ से ले आएगा?"

"माँ के सन्दूक में पड़ी है।"

"वह तो छोटी शाहणी ने ले ली होगी?"

"नहीं, चाची ने संभालकर रखी हुई है।"
"तू वैसे ही मेरी तस्वीर बना ले तो···?"
"नहीं नूरां, चुनरी लाऊंगा।"
"कोई देख लेगा।"
"तू हमारे घर चली आना। अब तो ऊपर चौबारा भी है वहां कोई नहीं देखता। और साथ ही मेरे रंग और ब्रुश भी वहां हैं।"
"अच्छा······।"
"कल सवेरे-सार।"

उस रात दीप ने चाची के घर रोटी खाई। और फिर चाची के साथ छोटी-छोटी बातों में लगा रहा।
"मां तो दुनिया में कोई नहीं बन सकता, पर छोटी शाहणी दिल की बुरी नहीं है दीप!"
"नहीं चाची, बुरी तो नहीं।"
"शाह जी ने भी तेरे चाचा के हाथ मुझे सन्देश भेजा है कि दीप से कहना, छोटी शाहणी की तरफ से दिल में कोई मैल न लाए।"
"मेरे दिल में तो कुछ नहीं चाची।"
"मुझे मालूम है दीप! पर शाह जी डरते थे—लड़का जवान है, जाने दिल में कोई बात बैठा ले।"
"उसका क्या कुसूर है चाची?"
"पर मैल कोई नहीं दीप। शाह जी की उम्र बहुत बड़ी है, तू भी तो उनकी बड़ी उम्र में हुआ था···। वह तो बिल्कुल जवान है। किसी से अच्छा-बुरा नहीं कहती, इस तरह जैसे मन को मार लिया है···।"
"खुश नहीं रहती?"
"खुश तो है। अन्दर-बाहर भरा हुआ है। गरीब की बेटी थी। इसके बाप ने शाह जी के पास जमीन गिरवी रखी हुई थी। शाह जी ने ज़मीन भी छोड़ दी और कहते हैं कि इसके बाप को कुछ नक़द भी दिया था···और अब इसके गिर्द चीजें समाती नहीं···पर उम्र का मेल कोई नहीं दीप!"
"चाची, एक बात कहूं?"
"क्या?"
"तेरे पास एक सन्दूक की चाबी है न?"

"तेरी अमानत है मेरे पास दीप !"

"वह कपड़े इसे निकाल दे।"

"नहीं दीप। वह तो जब तू घोड़ी चढ़ेगा…।"

"मेरी बात तो सुन चाची!"

"तेरी मां कहा करती थी…।"

"चाची, तब तक इन कपड़ों का रिवाज भी रहेगा क्या ?"

"तो क्या तू बूढा होकर ब्याह कराएगा ?"

"नहीं चाची, पर अब शहरों की लड़कियां ऐसे कपड़े कहाँ पहनती हैं।"

"तो तू क्या किसी शहरन से ब्याह कराएगा…?" वैसे बात तो ठीक है दीप, अब गाँव की लड़कियां तुझे कहाँ अच्छी लगेंगी…है न दीप! यह जो तूने पतलून पहन रखी है, तुझे बहुत अच्छी लगती है, साहब लगता है तू…।"

"अच्छा, ला दे फिर चाभी!" दीप हँसने लगा।

"पर उसमें सितारों वाली एक चुनरी है…ऐसे जड़े हुए हैं जैसे सुई रखने को भी जगह न रही हो।"

"अच्छा, वह चुनरी मैं निकाल लाऊँगा।"

"और चाँदी की पाजेब भी।"

"अच्छा, वह भी।"

चाची ने चाभी लाकर दे दी और जगदीप ने घर जाकर पिछली कोठड़ी में रखा सन्दूक खोला।

सन्दूक को हाथ लगाते ही जैसे दीप के अन्दर कोई हूक उठने लगी। माँ के हरेक स्पर्श ने जैसे उसे गले लगा लिया हो। दीप कपड़ों की तहें खोल न पाया।

दीप ने चाची को बुलाया, और उसने आकर सितारों वाली चुनरी और चाँदी की पाजेब निकालकर ऊपर चोबारे में दीप के बक्से में रख दी और बाकी का सन्दूक भरा हुआ रहने दिया।

दीप ने छोटी शाहणी को बुलाकर सन्दूक की चाभी पकड़ा दी।

"यह तू रहने दे दीप! मेरी अब उम्र ही कहाँ है किनारी वाले कपड़े पहनने की।"

दीप ने हैरान होकर छोटी शाहणी के मुँह की ओर देखा—मुश्किल से बीस बरस की रही होगी, ज्यादा हुआ तो बाईस की और वह कह रही है कि मेरी कौन-सी उम्र है किनारियों वाले कपड़े

पहनने को···

"उम्र तेरी क्यों नहीं? तेरा वक्त है, खाने और पहनने का, लड़के का दिल रख ले—उसने खुशी से तुझे दिए हैं। पास से दीप की चाची ने कहा और छोटी शाहणी ने चाभी पकड़ ली।

सुबह अभी जगदीप सोया पड़ा था जबकि नूरां आ गई। आज नूरां ने दीप को जगा दिया।

"शहरों में लोग इतनी देर से जागते हैं?"

"तू नूरां!"

"मुझे कहा नहीं था, सवेर-सार चली आना।"

"अभी तो सवेर हुई है।"

"तो मैं लौट जाती हूं, शहर वालों की सवेर जाने दुपहर के समय होती है।"

"नहीं नूरां, तू यहां बैठ, मैं पांच मिनट में तैयार हो जाता हूं।"

"दीप ने जब तैयार होकर अपने रंग और ब्रुश निकाले, तो साथ सितारों वाली चुनरी भी निकाल ली।

"यह मैं नहीं लूंगी।"

"क्यों?"

"यह पहनकर तो मैं···" नूरां का मुंह लाल हो गया।

"घड़ी पल चुनरी ले लेगी तो क्या हो जाएगा।"

"कुछ नहीं।"

"फिर ले ले।"

कितनी देर किसी ने कुछ नहीं कहा और फिर नूरां ने चुनरी खोलकर अपने सिर पर ले ली।

कितने ही बरस पहले का एक सपना दीप की आंखों में कांप गया और दीप ने जब ब्रुश को रंग में भिगोया, उसका हाथ कांप रहा था।

"तेरा मन ही नहीं है तस्वीर बनाने को।"

"क्यों, बना तो रहा हूं।"

"चुनरी को देखे जा रहा है, तस्वीर तो बनाता नहीं।"

"नहीं नूरां, सितारे इतने चमकते हैं, मेरी आंखें चुंधिया जाती हैं।"

"फिर चुनरी उतार···?"

"नहीं-नहीं…इसी तरह बैठी रह…।"

जैसे-तैसे दीप ने तस्वीर बना ली। उसे संतोष फिर भी नहीं हुआ, पर वह जानता था—अभी उसकी कला अधूरी है। नूरां ने चुनरी उतारकर समेट दी और दीप के बक्से में रख दी।

"यह चुनरी तू ले जा नूरां, तुझे बड़ी जंचती है।"

"हिश…" और नूरां भाग गई।

छुट्टियाँ खतम हो गई और जिस दिन दीप ने शहर लौट जाना था, चाची बेगमां ने आकर बताया—

"अगले छः महीने तक नूरां की शादी कर देनी है, चिट्ठी जाने पर आएगा न दीप ?"

"नूरां बुलाएगी तो जरूर आऊँगा चाची।"

जगदीप जब सबसे विदाई लेकर गाड़ी पर सवार हुआ, उस रात गाड़ी में एक सपना आया कि कोई उसके बक्से से सितारों वाली चुनरी निकालकर उसके सितारे तोड़ रहा था।

६

कुछ ही महीने गुजरे थे, नूरां की शादी की खबर मिली। शहर के सारे बाजार छान डाले, नूरां को देने के लिए जगदीप को कोई चीज नहीं जंची। जगदीप अपने हाथों से कई बार परे हटाता भी, पर उसकी आँखों के आगे रह-रहकर सितारों वाली चुनरी आ जाती। उसे अपने-आप पर खीझ आ गई, और उसने गाँव जाने का ख्याल छोड़ दिया।

महीनों की एक लम्बी कतार गुजर गई। जगदीप ने कमर्शल आर्ट के तीन बरस पूरे कर लिए और फाइन आर्टस का दो बरस का कोर्स शुरू कर लिया। अब उसके रंगों में जिन्दगी का मुँह दिखाई देने लगा था।

फिर खबर मिली कि शाह जी की मौत हो गई। चिर से ढीले-ढाले रहते थे, इसलिए पहले जगदीप को खास कुछ नहीं लिखा। न ही किसी को ऐसी आशा ही थी। जिस रात मौत हुई, अभी उस सवेर को वे अच्छे-भले थे। बाहर खेतों में भी गए थे। दुपहर के समय जब वे लौटे, उन्होंने खाया-पिया कुछ नहीं। कहने लगे, आज उनका शरीर टूट रहा है, और दिल भी कुछ-कुछ डूब-सा रहा है।

जगदीप को सिर्फ उनकी मौत की तार मिली थी। उसी रात उसने गाड़ी पकड़ ली।

"हम बड़े लज्जित हैं दीप। पर मौत ने हमें एक दिन भी न दिया कि हम तुझे खबर भी पहुँचा सकते।" जगदीप को गले लगाकर उसका चाचा बहुत रोया। "तुझे देखने को जाने कितने तरसते होंगे, पर उनके मुँह से कुछ नहीं निकला। आँख झपाकर किसीकी ओर देखा तक नहीं।" चाची कहती रही।

जगदीप ने छोटी शाहणी की ओर देखा, उसका मुँह···दीन और भी दीन हो गया था। जगदीप को लगा, उसके भीतर का सूनापन गहरा और भी गहरा हो गया था।

तेरह दिन तो जगदीप को गाँव में रहना ही था, साथ गर्मियों की छुट्टियाँ हो गई थीं, इसलिए जगदीप शहर न लौटा।

जगदीप के बाल-सखा अब गाँव के तगड़े जवान निकल आए थे। जगदीप कभी-कभी उनमें जाकर बैठ जाता पर उनसे घुल-मिल न पाता। वैसे उसे वे कुओं पर बैठे, खेतों में काम करते और हँसते-गाते अच्छे लगते थे। उसने कितने स्कैच भी लिए, पर रोज सन्ध्या को वह सोचता था जैसे कोई भी आने वाला दिन उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता था।

चाची बेगमाँ के घर पर भी वह दो-तीन बार हो आया था। नूराँ अपने ससुराल में थी और चाची बेगमा उसे बड़े चाव से बताती रही थी कि कैसे नूराँ के लिए उसने आभूषण बनवाए थे, कैसे सुच्चे कपड़ों पर उसने अपने हाथों से किनारी लगाई, कैसे नूराँ को रूप चढ़ा, कैसे बारात आई। कितनी उसे वरी (ब्याह के वस्त्र) मिली थी, कितनी उनके घर देगें चढ़ी थीं···फिर जगदीप पिछवाड़े में जाता और अपने बरगद को देखता। नूराँ ने पानी दे-देकर उसे बड़ा किया था और अब इतना जवान हो गया था कि उसे पानी की जरूरत ही नहीं रह गई थी। पत्तों ने जैसे एक कोठा डाल लिया था। जगदीप उसकी छाया में अपने कागज और रंग बिखेर देता। कानों में कभी-कभी आवाज सुनाई पड़ती—

—तू बरगद को पानी देगी नूराँ ?

—तुझे क्या, चाहे दूँ चाहे न।

—अच्छा, मुझे कुछ नहीं ?

—तू शहर जा, तुझे क्या पड़ी है गाँव के बरगदों से, चाहे सूख

जाएँ, चाहे जल जाएँ।

फिर जैसे जगदीप के दिल में आता : तूने उलट कहा था नूरां, तुझे क्या गाँव के बरगद से, चाहे कोई रोज आकर यहाँ बैठा रहे···। और फिर "तुझे क्या" का बोल जगदीप के भीतर खलबली मचा देता।

छुट्टियाँ खत्म होने को आ गई थीं जबकि एक दिन जगदीप को रोटी खिलाते हुए छोटी शाहणी भावों में बह गई—

"तू शहर चला जाएगा दीप ?"

"शहर ?···वहाँ तो जाना ही है।"

"तू अब शादी क्यों नहीं कर लेता दीप ?"

"फिर क्या हो जाएगा ?" जगदीप हँस पड़ा।

"नहीं, बात यह है···कि···" आगे शाहणी कुछ बोल नहीं पाई, पर उसकी खामोशी में कुछ ऐसी पीड़ा थी कि जगदीप की हँसी ठिठुरकर रह गई।

"क्या बात है शाहणी···" जगदीप की आवाज में ऐसी गंभीरता थी कि शाहणी का दिल टटोला गया।

"तू मुझे शाहणी क्यों कहता है ? मैं तेरी माँ होती हूँ।"

"वैसे ही, सब छोटी शाहणी कहते हैं, मैं भी कह देता हूँ···" जगदीप ने कुछ देर रुककर कहा।

"वैसे दीप, मुझे भी यह नहीं लगता कि मैं तेरी माँ हूँ···मुझे तो तू अपने छोटे भैया जैसा लगता है।"

जगदीप ने कहा कुछ नहीं, पर उसने शाहणी के मुँह की ओर ऐसे स्नेह से देखा, जैसे दोनों को बहन-भाई का रिश्ता मंजूर हो गया हो।

"बता, फिर शादी करके क्या करूँ ?"

शाहणी बोली नहीं, जैसे उसमें बोलने की सामर्थ्य नहीं थी।

"तुझे किसी बात की कमी आने लगी।"

"कमी तो कोई नहीं दीप! पर मेरा जीने को दिल नहीं करता।" शाहणी की आँखों में आँसू नहीं थे, पर जैसे उसके भीतर जिन्दगी की रोशनी बुझ रही थी।

"एक बात पूछूँ शाहणी ?"

"तुझसे मैंने कुछ नहीं छिपा रखा दीप !"

"अब तो तेरे साथ सितम हुआ है, पर जब मैं पहले आया था, तब भी तू इस तरह थी जैसे···।" आगे जगदीप कुछ कह न सका।

"तब भी मैं जाने कैसे जीती थी···।" शाहणी नाखूनों से मिट्टी

कुरेदने लग गई।

"मैं भी यही कहने लगा था।"

"यह सच है दीप!"

"तेरी रजामंदी से शादी नहीं हुई थी?" दीप ने रुककर पूछा।

"कैसी रजामंदी दीप! मेरे बाप ने मुझे बेच दिया···मेरे तो तब भी मन में आती थी कि कुएँ में छलांग लगाकर मर जाऊँ। फिर यही कहा, मरकर भी मरना और जीकर भी मरना कोई बात नहीं। जिन्दा रहकर ही मरूँगी। बाप ज़रा सुखी हो जाएगा। मेरा छोटा-सा भैया था, बिलकुल तेरे जैसा, मासूम-सा। उसके मुँह की ओर देखती थी और सोचती थी—चलो, इसके सिर से कर्ज का बोझ उतर जाएगा···अब वे सुखी हैं और अपने घर खुश हैं, खुश रहें···।"

जगदीप को लगा—जैसे उसका भीतर ही खाली-खाली नहीं था, दुनिया में जाने कितने लोग थे, जिनके भीतर इतने खलाव थे।

"अब मुझसे जिया नहीं जाता दीप···।"

जगदीप कुछ न कह सका। शाहणी ने रुककर कहा, "दिल तो मेरा उसी दिन कुएँ में डूब गया था दीप! मेरा यह जिसम अभी शेष है। मुझसे इसका बोझ नहीं उठाया जाता।"

फिर पत्थर-सी खामोशी को आगे कोई तोड़ नहीं सका। जगदीप सन्ध्या-भर खेतों की मेड़ पर घूमता रहा। जहाँ कोई कुआँ चल रहा होता, उसे लगता जैसे उसमें छोटी शाहणी ने छलांग लगा ली हो, और वह पागलों की भाँति कुएँ में झुककर देखने लग जाता।

रात को जगदीप बड़ी देर बाद लौटा। छोटी शाहणी चूल्हे के पास बैठी जगदीप की राह देख रही थी। जगदीप चौके में जाकर बैठ गया और शाहणी ने गर्म रोटी उतारकर जगदीप की थाली में रख दी।

"शहर में तो कोई तन्दूर पर रोटी नहीं लगाता, तू वहाँ चूल्हे की रोटी खाता होगा···अच्छा! मैं तुझे चूल्हे की सेंक दिया करूँगी।"

कितने दिन हुए जब शाहणी ने जगदीप से कहा था और उस दिन से वह जगदीप के लिए पतली-पतली रोटी बेलकर चूल्हे पर सेंकती रही थी।

आज जगदीप का रोटी खाने को दिल नहीं था, उसका दिल बातें करने को होता था, पर बात उससे कोई होती नहीं थी, वह जैसे अपने

को व्यस्त रखने के लिए रोटी खाता रहा।

वह रोटी खा चुका तो शाहणी ने चौका संभाला। दूध को जाग लगाई, जगदीप का बिस्तर झाड़-पोंछकर बिछाया और ड्योढ़ी के द्वार की साँकल चढ़ाकर अपनी खाट पर आकर लेट गई।

"सोया नहीं क्या दीप?"

"नहीं शाहणी, तू कोई कहानी कह···।" जगदीप ने बच्चों की भाँति कहा।

"मुझे तो सब कहानियाँ भूल-सी गईं, दीप···।"

"कोई परियों की कहानी कह।"

"कहाँ होती हैं परी दीप? ऐसे ही बातें बनी हुई हैं···।"

"जब तू छोटी होती होगी, जरूर कहानी कहती होगी।"

"सब कहानियाँ झूठी थीं दीप!"

"अच्छा, मैं तुझे एक कहानी सुनाऊँ?"

"हाँ, कह···।"

"एक थी लड़की—बड़ी सुन्दर लड़की, और उसके माता-पिता का दिल किया कि वह उस लड़की को बेचकर बहुत-से रुपये ले लें।"

"जा, परे···।"

"सुन तो सही—और फिर जब उस लड़की ने सुना, उसे गुस्सा आ गया और वह कुएँ में कूद पड़ने के लिए चल दी। जब वह कुएँ में कूदने ही वाली थी कि पीछे से परी ने आकर उसे पकड़ लिया।"

"परियाँ नहीं आती दीप! परियाँ झूठी होती हैं। वैसे एक बात तेरी सच है।"

"कौन-सी बात?"

"जिस रात मैं कुएँ में कूद पड़ने के लिए गई थी, मेरे पीछे-पीछे···।"

"कौन आया था शाहणी?"

"जगते ने जाने मुझे कहाँ देख लिया, और वह मेरे पीछे-पीछे चला आया।"

"जगता कौन था शाहणी?"

"हमारे गाँव का लड़का है दीप! कोई दो बरस से मेरे पिता से कहता आ रहा था कि वीरां की शादी मुझसे कर दो।"

"और वह मानता क्यों नहीं था?"

"वही जमीन का झंझट, जमीन तो सब गिरवी पड़ी थी शाह जी-

के पास…।"

पत्थर-सी खामोशी छा गई, फिर जैसे पत्थर के दिल पर एक चींटी रेंग गई।

"जगता कैसा था शाहणी ?"

"उस जैसा कौन होगा दीप ! जमीन काँपती थी उसके पैरों के नीचे।"

"उसने तेरे बाप को रोका नहीं ?"

"जब एक ओर पैसा नजर आता हो दीप, तब कोई आवाज कानों को सुनाई नहीं पड़ती।"

"और वह खामोश हो रहा ?"

"नहीं दीप, मुझे कहता था—तू कहे तो तुझे वहाँ ले जाऊँ जहाँ तेरी खोज-खबर न मिले।"

"फिर ?"

"मैं ही डर गई थी, उधर मेरे बाप ने शाह जी को वचन दे दिया था। सोचती थी, मैं चली गई तो पीछे मेरे बापू और मैया का क्या हाल होगा…।"

"तो फिर मैंने तुझे कहानी सच ही कही थी न…।"

"सच, कैसे दीप ?"

"तुझे मैंने कहा था कि जब वह लड़की कुएँ में कूदने लगी तो पीछे से परी ने पकड़ लिया।"

"हाँ।"

"उस परी को जिन्दगी भी कहते हैं शाहणी।"

"कौन-सी जिन्दगी दीप ?"

"यही जिन्दगी शाहणी, और कौन-सी ?"

"झूठी बातें हैं दीप।"

"जगता कहाँ होता है ?"

"अपने गाँव में ही है।"

"तू कभी गाँव नहीं गई ?"

"नहीं दीप, जिस दिन मेरी डोली चली थी। मैंने दिल में गाँठ बाँध ली थी कि अब लौटकर नहीं आऊँगी।"

"क्यों शाहणी ?"

"जिन माता-पिता ने मेरा मोल ले लिया, मेरा उनसे फिर क्या रिश्ता रहा ? कितने ही सन्देश उन्होंने भेजे, शाह जी से भी कहा,

मेरा दिल ही नहीं हुआ जाने पर। अब जब शाह जी की मौत हुई है, वे मेरी मिन्नतें करते रहे हैं—पर मैंने नहीं माना। साथ ही दीप···।"

शाहणी आगे कुछ नहीं बोली। जगदीप ने रुककर पूछा, "क्या कहने लगी थी शाहणी ?"

"पहले तो मैं चली ही जाती, पर अब में कभी नहीं जाऊँगी, सौगन्ध खाकर कहती हूँ।"

"क्यों शाहणी ?"

"मुझे जगते से डर लगता है।"

"अब भी वह तेरा ख्याल करता है शाहणी ?"

"अभी किसीके हाथ कहला भेजा है कि अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। अगर तू मान जाए तो मैं···।"

"फिर परी वाली कहानी सच हो गई न !"

"सच कैसे दीप ? यह तो मेरे घावों पर नमक छिड़कना है।"

"तू झूठ को सच क्यों नहीं बना लेती शाहणी···।"

शाहणी अपनी खाट पर से चौंककर उठ बैठी।

"तू क्या कहता है दीप !"

"सच कहता हूँ।"

"पागल हो गया है क्या ?"

"नहीं शाहणी, सच कहता हूँ।"

"जो भगवान् को मंजूर नहीं था दीप···।"

"भगवान् को अब मंजूर हो जाएगा शाहणी ! तू जगते को कहला भेज।"

"दीप···।" शाहणी की आवाज कांपने लग गई।"

"एक बार साहस तो कर शाहणी।"

"नहीं दीप नहीं ! मुझ मर चुकी को और न मार।"

"दिल को मजबूत क्यों नहीं करती शाहणी ?"

"मैंने अपने दिल को मार लिया है दीप ! अब तू ऐसी बातें करना छोड़ दे।"

"जरा सोचकर बता शाहणी। एक ओर जिन्दगी है, दूसरी ओर मौत।"

"मुझे मौत ही मंजूर है दीप ! अब मैं जिस आग को बुझा चुकी हूँ, उसे फिर न सुलगा।"

"कभी-कभी परी-कहानी भी सच हो जाती है शाहणी···।"

अभी तक शाहणी की आँख में आँसू नहीं टपका था, अब वह जैसे फूटकर रो पड़ी।

जगदीप ने छोटी शाहणी के बापू को बुलाकर शाहणी को उसके सुपुर्द कर दिया। सोहियां कलां के सारे गाँव को यही पता चला कि छोटी शाहणी मैके जा रही थी। आभूषणों का बकसा जगदीप ने अपने हाथों से भरा और छोटी शाहणी को मैके तक पहुंचाने गया।

"उस घर में सब कुछ तेरा ही है शाहणी! जब तुझे जरूरत पड़े, जितनी भी···।"

"मुझे लज्जित न कर दीप···।" शाहणी दीप के गले लगकर रोने लग गई, और फिर बोली—"मुझे शाहणी क्यों कहता है दीप, मुझे वीरां कह न।'

गाँव लौटते हुए जगदीप को लगता रहा कि उसके दिल का खलाव आज भरा हुआ था। एक खुमारी में वह घोड़ी पर चढ़ा रहा। जाने कब सोहियां कलां आ गया और उसने अपनी घोड़ी का मुँह चाची वेगमां के घर की तरफ मोड़ लिया। घोड़ी से उतरकर वह मकान के पिछवाड़े बरगद के नीचे जा खड़ा हुआ।

बरगद की छाया उसे आज जैसी अच्छी कभी नहीं लगी थी। बरगद के पत्तों से उसने अपनी आँखें ढाँप लीं। फिर उसके भीतर एक हूक उठी—छाया, सिर्फ छाया, फल कोई नहीं। तू तो कहती थी नूरां: एक बेरी लगा लें, लाल और माठे बेर खाएँगे। आम का एक पेड़ लगा लें। पर मैंने ही कहा था: फलों का क्या करेंगे, हमें तो छाया ही बहुत है···नूरां, नूरां! मेरी किस्मत में फल कोई नहीं था···।"

७

जगदीप ने फाइन आर्ट्स के दो बरस समाप्त कर लिए। स्कूल के प्रिंसिपल को जगदीप में कोई चिनगारी सुलगती हुई लगती थी। उसकी लकीरों में सूक्ष्मता होती थी और रंगों में जैसे दिल की धड़कन सुनाई देती हो। प्रिंसिपल का दिल नहीं कहता था कि जगदीप उस स्कूल को छोड़कर चला जाए, उसने जगदीप को उसी स्कूल में नौकरी के लिए जोर दिया। पर जगदीप नौकरी करना ही नहीं चाहता था,

कोई बडी कला जैसे उसके भीतर करवट ले रही थी। गाँव की ज़मीन से जगदीप को गुज़ारे-माफ़िक अच्छे पैसे मिल जाते थे। उसने अब अपने मामा के घर की ऊपर की छत पर अपने लिए दो नये कमरे बनवा लिए थे। एक में उसने स्टूडियो बनाया और दूसरे को सोने का कमरा।

"जिस राह की आपने मुझे लगन लगाई है, अब उस राह की मुश्किलें झेलने दीजिए, और जहाँ तक मैं इसी लम्बी राह पर चल सकता हूँ, मुझे चलने दीजिए। नौकरी के बन्धन में न डालिए मुझे···।" जगदीप ने अपने प्रिंसिपल को रजामन्द कर लिया।

"मैं माडल से पेन्ट करना चाहता हू, आप मुझे राह सुझाते रहा कीजिए।" एक दिन जगदीप ने अपने प्रिंसिपल से कहा।

"हमारे देश में इसका रिवाज नही है। कोई भी लड़की नहीं मानेगी, यह कैसे होगा?" प्रिंसिपल को भरोसा था कि जगदीप जैसा शागिर्द न उसे कभी मिला था, और न शायद मिले ही। वह उसके भीतर की चिनगारी को बुझने नही देना चाहता था, पर सामाजिक वातावरण कोई बहुत अच्छा नहीं था और उसे अपने सामने कई बाधाएँ नजर आती थी। दूसरे-तीसरे दिन प्रिंसिपल ने जगदीप के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा, "तेरा आचरण फौलाद-सा होना चाहिए दीप! तभी तेरे भीतर का कलाकार जिएगा!"

थोड़े-से दिन गुज़रे होंगे, जब प्रिंसिपल ने आकर जगदीप के स्टूडियो का द्वार खटखटाया। जगदीप ने द्वार खोला, एक साँवली और बड़ी ही बाँकी लड़की प्रिंसिपल के साथ आई थी। "यह राभिन्दर है, मेरी बेटी—मेरे दोस्त की बेटी, हम इसे रमी कहते हैं।"

जगदीप को जैसे आगे पूछने की ज़रूरत ही नहीं थी। उसे इतनी बड़ी आशा नहीं थी। जगदीप को लगा, जैसे उसके पैर ज़मीन पर नही पड़ते थे। "मुझे जल्दी जाना है। पूरे साढे चार बजे मेरा भाषण है, और सवा चार हो गए हैं।" प्रिंसिपल जगदीप का कन्धा थपथपाते हुए उसी वक्त लौट गया।

"राभिन्दर बहन जी, मैं कैसे तुम्हारा धन्यवाद करूँ!" जगदीप ने एक अच्छी-सी कुर्सी की ओर संकेत करके बैठ जाने को कहा।

राभिन्दर बैठ गई। पर उसमें जैसे कोई बहुत उत्साह नही था। जगदीप को लगा, जैसे राभिन्दर अपनी इच्छा से न आई हो, पर पिता

या पिता के दोस्त की बात न टाल सकने के कारण चली आई हो।

जगदीप के चाव में कोई अन्तर न आया। उसने रामिन्दर का मन बहलाने के लिए बड़ी तमन्ना से कहा—

"मैं प्रिंसिपल साहब की किसी आशा से हल्का नहीं पड़ूँगा। मैं जी-जान से परिश्रम करूँगा, दिन-रात करूँगा।"

रामिन्दर ने जैसे जगदीप की बात अनसुनी कर दी। जगदीप को लगा कि शायद वह अच्छी तरह से नहीं कह सका था। उसने और कुछ कहना चाहा, पर रामिन्दर का ध्यान उसकी ओर नहीं था। जगदीप खामोश हो रहा। पर उसके भीतर से एक विश्वास जगा कि कुछ ही दिनों में वह रामिन्दर का विश्वास जीत लेगा, और फिर वह आज जैसी बे-मन नहीं होगी। आज जगदीप को अपने प्रिंसिपल की बात समझ में आई : तेरा आचरण फौलाद-सा होना चाहिए दीप! तभी तेरे भीतर का कलाकार जिएगा···।

"मैं तुम्हें अपने कुछ चित्र दिखाऊँ? कोई अच्छे तो नहीं। अभी, मेरा हाथ कच्चा है···।"

"मैंने सब चित्र देखे हुए हैं।" रामिन्दर ने धीमे से कहा।

"शायद प्रिंसिपल साहब कई बार घर पर ले जाते थे।" और आगे जगदीप कुछ नहीं बोला। वैसे उसे कुछ हैरानी-सी हुई, इतना स्नेह-स्निग्ध-सा हृदय रखने वाला प्रिंसिपल, इतनी रूखी लड़की को अपनी बेटी कहता है।

कोई दो घंटे रामिन्दर बैठी रही और जगदीप पेन्ट करता रहा। अब रामिन्दर का बे-परवाह चेहरा जगदीप को भला लगता था और वह चित्र की आकृति पर वही रूखापन लाने का प्रयत्न कर रहा था।

"चाय लोगी, तुम थक गई होगी।" जगदीप ने कहा।

"नहीं।"

जगदीप को समझ नहीं पड़ी, पर रामिन्दर के इन्कार में कुछ ऐसा था कि उससे फिर और कुछ नहीं पूछा गया।

"अब तुम थक गई होगी, किसी दिन फिर आ सकोगी?" जगदीप ने कुछ देर रुककर कहा।

"कल आऊँगी।" रामिन्दर ने कहा। फिर जगदीप से बिना कुछ कहे, और बिना चित्र की ओर देखे वह कमरे से बाहर हो गई।

"मैं तुम्हें छोड़ आऊँ?" जगदीप ने जैसे भागकर पूछा।

"नहीं, मेरा साइकल नीचे पड़ा है, मैं स्वयं ही चली जाऊँगी।"

रामिन्दर ने एक बार भी पीछे घूमकर नहीं देखा और सीढ़ियाँ उतरने लगी।

जगदीप अपने स्टूडियो में लौट आया। उसे कुछ भी पता न चला कि रामिन्दर का व्यवहार अच्छा था या बुरा। पर उसे यह जरूर लगा कि जैसे कमरे की हवा कुछ भारी हो गई थी।

रामिन्दर दूसरे दिन भी आई और उससे अगले दिन भी। और फिर प्रतिदिन समय बताने या पूछने की जरूरत जैसे खतम हो गई। ठीक समय पर वह आती और लौट जाती। प्रतिदिन जगदीप उसे चाय पूछता, प्रतिदिन वह एक रूखा-सा 'इन्कार' कर देती। चित्र की ओर कुछ क्षण देख भी लेती, पर कुछ कहती नहीं। उसके अनमनेपन ने जैसे उसे भींचकर पकड़ा हुआ था।

जाड़े के पैर दिन-दिन ठिठुरते जाते थे। रामिन्दर जब आती तो वह एक शाल में लिपटी हुई होती, पर चित्र के सामने बैठते समय उसे अपनी शाल उतारनी पड़ जाती थी और उसके अंगों को सिकोड़ती सर्दी अब उसके चेहरे से भी दिखाई देने लग गई थी। जगदीप ने कमरे में अब अंगीठी का इन्तजाम कर लिया। कमरा गर्म हो गया। रामिन्दर आसानी से बैठ जाती, पर चाय का एक प्याला अब भी उसने जगदीप से नहीं लिया।

"पापा जी कहते थे : अगर तुम बाहर खेतों में जाकर स्कैच करना चाहो, तो मैं वहाँ भी चली जाऊँगी।" रामिन्दर ने कहा।

जगदीप जैसे खुशी से उछल पड़ा, पर जब उसने रामिन्दर की ओर देखा। यद्यपि वह उसके चेहरे के अनमने भावों को देखने का अभ्यस्त हो गया था, फिर भी आजका अनमनापन उसे कांटे की तरह बिंध गया। साथ ही रामिन्दर का वाक्य : "पापा जी ने कहा था, अगर तुम···मैं वहाँ चली जाऊँगी।" जैसे जाने या न जाने का रामिन्दर के साथ कोई सम्बन्ध न हो और पापा जी की आज्ञा का मानना ही उसका कर्त्तव्य हो।

"कैसे जाएँगे? सामान तांगे में रख लेंगे।" जगदीप ने कहा।

"क्यों साइकलों पर चलेंगे। मैं अपने साइकल पर आ जाऊँगी और तुम अपने साइकल पर सामान रखकर आ जाना, सुबह ग्यारह बजे।" और एक आज्ञा की तरह यह कहकर रामिन्दर चली गई।

जगदीप ने बहुत कुछ सोचा कि, वह दुपहर की रोटी बनवाकर

साथ ले जाए, थर्मस में चाय ले जाए···पर रामिन्दर का 'इन्कार' उसके अन्दर एक पत्थर की तरह पड़ा हुआ था, और उस पत्थर को हिलाने का साहस नहीं होता था।

दूसरे दिन सुबह के ग्यारह बजे थे जबकि रामिन्दर आई। जगदीप ने अपना सामान अपने साइकल के आगे-पीछे बांधा और फिर जैसे बड़ा ही साहस करके रामिन्दर से पूछा—"कुछ रास्ते में खाने के लिए ले चलें ?"

"कोई जरूरत नहीं···।" और रामिन्दर ने अपने साइकल पर पैर रखा। कोई छह-सात मील साइकल चलाकर जगदीप और रामिन्दर शहर के बाहर की नहर लाँघकर खेतों में आ गए। जगदीप ने मनचाही जगह देखी और साइकल एक ओर रखकर अपना सामान खोला।

कोई एक-डेढ बजे तक जगदीप काम करता रहा। सरसों के खेतों का सोना जगदीप के कागज पर उतरता रहा और फिर जगदीप की निगाह एक सूखे वृक्ष पर पड़ी। एक विचार जगदीप के मन में आया, वृक्ष की शाखाओं का फैलाव कोई छोटा-सा नहीं था, पर एक भी पत्ता इस समय शाखाओं पर नहीं था। अगर इस वृक्ष की शाखाओं के साथ रामिन्दर खड़ी हो···मैं चित्र बनाकर उसके नीचे लिख दूँगा : "पतझड़ और बहार···" और वह सरसों के खेतों का सोना एक ओर रखकर पतझड़ और बहार बनाने लग गया।

दो बज चुके थे। जगदीप ने हाथ का बुश एक ओर रखकर कहा—"देवी जी, तुम तो व्रत रख सकती हो, पर मैं नहीं रख सकता। आओ, अब चलें।"

रामिन्दर ने अपने साइकल पर से टोकरी उतारी और एक ओर तौलिया बिछाकर कितने ही बँधे हुए पैकट खोल दिए। न तो रामिन्दर प्लेटें और चम्मच लाना भूली थी, और न थर्मस में चाय लाना। खाने की चीजों के इतने पैकेट थे कि वे सारा दिन खाते रहते, तो खत्म न होते।

सभी कुछ बहुत अच्छा था, जगदीप खाए भी जा रहा था, बल्कि प्लेट में पहले पड़ी चीज खत्म नहीं होती थी, रामिन्दर और डाल देती थी और जगदीप जरूरत से अधिक खा रहा था, पर उसका मन किसी बोझ के नीचे दबा-सा जा रहा था—मैं रामिन्दर का विश्वास नहीं जीत सका,···मेरा इतने दिनों का व्यवहार···मेरा परिश्रम···।

जगदीप ने और भी मन को टटोला। पिछले दिनों जगदीप के दोस्तों

ने उसे कई बार कुरेदा था : आजकल तू हमें क्यों मिलने लगा···ऐसा माडल और फिर दोस्त कैसे नज़रों मे ठहरें···। और जगदीप की आँखों में रोष उतर आया था। उसने दोस्तों से जैसे गर्जकर कहा था : रामिन्दर मेरी बहन जैसी है···।

खाना खत्म हुआ। रामिन्दर ने जगदीप को चाय का प्याला दिया। फिर दो घंटे काम करके दोनों अपने साइकलों पर लौट आए।

जगदीप ने जाड़ों में कई चित्र तैयार किए, पर उनमें तीन चित्र विशेष थे। एक चित्र का नाम उसने 'दुनिया' रखा था। इस चित्र की लड़की उसने रामिन्दर के माडल से बनाई थी। दुनिया उसे सुन्दर लगी थी। ज़िन्दगी का रंग उसने अपनी कल्पना से लिया था। और दूसरा चित्र 'पतझड़ और बहार' था। यह उसने सूखे वृक्ष और रामिन्दर की प्रतिमा को जोड़कर तैयार किया था। तीसरा चित्र उसने आज से कितने बरस पहले नूरां को सितारों वाली चुनरी ओढाकर जो स्केच बनाया था—उसकी सहायता से तैयार किया था इस चित्र का नाम उसने 'सपना' रखा था। सितारों वाली चुनरी के गिर्द बादलों की तरह सपने लिपटे हुए थे और नूरां की आँखें इस तरह थीं, जैसे वे सपनों के बोझ से झुकी हुई हों।

चैत चढ़ आया। शहर के एक अच्छे भवन में भारत के प्रसिद्ध कलाकारों की प्रदर्शनी हो रही थी। प्रिंसिपल इस पक्ष में था कि इस प्रदर्शनी में जगदीप की एक पेंटिंग अवश्य ली जानी चाहिए। जगदीप अभी अपनी कला को इस योग्य नहीं पाता था। कई बार उसे प्रिंसिपल की कोई बात उतनी ठोस नहीं लगती थी, जितनी कृपापूर्ण। उसने मना कर दिया। प्रिंसिपल ने चित्र के लिए स्थान खाली रखवा दिया था, और वह अपनी बात पर दृढ़ था। उसने जगदीप के स्टूडियो में आकर तीनों चित्र देखे। बड़े ध्यान से उनकी परख की, और फिर 'सपना' चित्र को उसने प्रदर्शनी में रखने के लिए चुन लिया।

"कितने मोल की चिट लगानी होगी ?" प्रिंसिपल ने पूछा। रामिन्दर और जगदीप पास खड़े थे, दोनों में से किसीने कुछ नहीं कहा। प्रिंसिपल स्वयं ही बोला—"दो सौ से कम की नहीं होनी चाहिए।"

"मैं यह चित्र नहीं बेचूंगा।" जगदीप ने धीमे से कहा।

खरीदेगा भी कौन ? ऐसे एक रिवाज-सा है। मोल लगाना

चाहिए।"

"नहीं, चिट लगा दें : नॉट फार सेल।"

"इसमें घमंड लगता है। अच्छा, दो सौ के स्थान पर तीन सौ लिख देते हैं। मगर कोई लेना भी चाहे तो न ले सके। साढ़े तीन सौ लिख दें?"

जगदीप खामोश हो रहा। पास से रामिन्दर ने भी कुछ नहीं कहा और प्रिंसिपल ने वह चित्र प्रदर्शनी में भेज दिया।

प्रदर्शनी हुई। दर्शकों और कलाकारों का खूब जमघट रहा। शहर में प्रदर्शनी की बातें होतीं, यद्यपि लोग अपने-आपको कला के शौकीन जाहिर करने के लिए बात छेड़ देते थे। जहाँ भी दो आदमी जुड़ते, चित्रों की बात ही होती। फिर पता चला, जगदीप का चित्र बिक गया था। प्रदर्शनी के प्रबन्धकर्त्ताओं ने जगदीप को बधाई दी। लोग अब और भी उत्सुकता से उस चित्र को देखते थे, पर जगदीप का चेहरा ऐसे हो गया कि जैसे किसीने धक्का देकर उसके हाथ से कोई वस्तु छीन ली हो।

प्रदर्शनी खत्म हो गई। जगदीप चुपचाप अपने स्टूडियो में बैठा रहता। इन दिनों रंगों और ब्रुशों को उसका देखने को भी दिल न होता। रामिन्दर भी कई दिन से नहीं आई थी। जगदीप का स्टूडियो जैसे वीरान दिखाई देने लगा।

एक दिन तो जगदीप से अपनी उदासीनता झेली न गई और वह प्रिंसिपल से मिलने उनके घर पर गया। प्रिंसिपल मिला नहीं। उसने रामिन्दर के घर का पता पूछा और उधर चला आया।

सन्ध्या का हलका-सा अँधेरा उसके गिर्द फैला हुआ था। नौकर ने उसे रामिन्दर का कमरा दिखा दिया और कमरे के खुले हुए द्वार को उसने हौले से खटखटाया, सामने रामिन्दर खड़ी थी।

"तुम?" रामिन्दर जैसे काँप गई।

जगदीप अब जैसे रामिन्दर के अनमनेपन से हिल-मिल गया था। वह समझ गया था कि वह बेपरवाह स्वभाव के कारण है। आज जगदीप हैरान था, रामिन्दर की घबराहट जैसे उसे पैरों पर खड़ा रहने नहीं दे रही थी।

जगदीप दो कदम कमरे के अन्दर बढ़ आया था। वह वहाँ का वहीं रुका रह गया, और रामिन्दर ने अपने काँपते हाथों को कुर्सी का सहारा दिया।

"रमी, मैं चला जाऊँ ?" जगदीप को लगा कि जैसे वह कोई कसूर कर बैठा था।

रामिन्दर का रंग निचुड़े हुए नीबू जैसा था। उससे बोला नहीं गया। जगदीप ने घबराकर कमरे में देखा, सामने की बड़ी अलमारी के दोनों खाने खुले थे और उनमें उसका चित्र "सपना" रखा था।

"रमी !" जगदीप के मुँह से निकला और वह हड़बड़ाकर अलमारी की ओर बढ़ा। एक बार जगदीप ने चित्र को देखा और फिर घूमकर रामिन्दर को। रामिन्दर दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँपकर सुबकने लगी थी।

"रमी !" जगदीप के अंगों में जैसे सिक्का भरता जा रहा हो।

"हाँ, मैंने खरीदा है, मैंने खरीदा है···।" रामिन्दर जैसे अपने आँसुओं की कमज़ोरी से खीझ उठी हो, और फिर स्वयं पर ही रोष दिखाने लग गई हो।

जगदीप कुछ न समझ पाया, पर उसने होले से कहा—"तुझे खरीदने की क्या जरूरत थी, मुझे कहती, मैं तेरे कमरे में लगा जाता।"

रामिन्दर के अंगों में जैसे जहर उबल आया हो, और वह कुर्सी पर से उठकर अलमारी की ओर भागी। चित्र रामिन्दर के हाथ में था और वह अपनी सारी शक्ति से चित्र के टुकड़े-टुकड़े किए जा रही थी।

जगदीप जैसे सिक्का बन गया हो। रामिन्दर कह रही थी—"नूरां···नूरां···नूरां · मैं इस चित्र को सहन नहीं कर सकती, नहीं कर सकती···मैंने इसीलिए खरीदा था···फाड़ देने के लिए खरीदा था···।"

कागज के टुकड़े सारे फर्श पर बिखर गए, कितने ही टुकड़े जगदीप के पैरों में पड़े थे। शायद आगे और भी कुछ रामिन्दर ने कहा, पर जगदीप को कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था। एक शब्द जगदीप के कानों में अटका हुआ था—नूरां···नूरां···नूरां···।"

जाने किस समय जगदीप कमरे से बाहर हो लिया। रामिन्दर कागज के उन टुकड़ों के पास ही फर्श पर पड़ी सुबकती रही।

८

शहर की हवा में अब जैसे जगदीप की सांस अटकती थी। किसी दिन वह घंटों नहर के किनारे जाकर बैठा रहता और किसी दिन शहर से दूर खेतों की मेड़ पर। पर उसे ऐसे लगता जैसे हवा में कोई कड़वाहट घुली हुई हो। उसका गला एक प्यास से सूख जाता, और उसके होंठो पर कसैली-सी पपड़ी जम जाती।

स्टूडियो में बैठे हुए जगदीप को लगता कि जैसे सारे रंग एक-दूसरे में घुल गए हैं और फिर एक मैली-सी काली धार बनकर उसकी आँखों में पड़ रहे है।

कितने बरस हुए जब जगदीप ने सपना देखा था—कोई नूरां की सितारों वाली चुनरी के सितारे उतार रहा था। आज बरसों बाद वह सपना और भयानक हो गया। अब जैसे कोई···नूरां के मुँह को नाखूनों से नोच रहा था।···

अगले सप्ताह जगदीप ने लाहौर छोड़ दिया। एक बार उसका दिल हुआ, वह गाँव में चला जाए। पर जब उसने गाँव को याद किया, तो जैसे किसीने उसे आवाज नहीं दी। किसीने उसे स्वागतम् न कहा। एक ही उसकी कला थी, जो उसे अंगुली के इशारे से अपनी ओर बुलाती थी। वह निकट जाता था, कला और आगे बढ जाती थी और उसे अपनी ओर बुलाती थी। वह और आगे बढ़ जाती थी। ···जगदीप उसके पीछे बढ़ता चला गया।

दिल्ली में आकर जगदीप को लगा, जैसे उसकी कला ने धरती पर उसका स्थान बना दिया था। तीन कमरों का एक घर किराए पर लेकर, जगदीप ने अपना स्टूडियो बनाया। अब उसकी रेखाओं में एक लचक आती जा रही थी, रंगों में प्यारे से सपने घुलते जाते थे। उसने अपने दिन, अपनी रातें, कला के सुपुर्द कर दीं। यहाँ उसे बहुत से कलाकारों से वास्ता पड़ा···कभी प्राचीन कलाएँ उसे अपनी ओर खींचतीं, कभी वह आधुनिक कला की तकनीक को लेकर सोचता। विचार-विनिमय होता। किसी दूसरे देश की कला की प्रदर्शनी होती। उसकी जानकारी बढ़ती गई, बढ़ती चली गई···।

फिर एक घटना उसकी जिन्दगी पर हथौड़े की तरह पड़ी। एक दिन उसके एक पेंटर दोस्त ने कहा कि उसकी जान-पहचान की दो लड़कियाँ एक-दो दिन के लिए शहर में आ रही थीं। ठहरने का कोई

इन्तज़ाम नहीं था, मगर वह एक-दो दिन के लिए अपना एक कमरा दे दे, तो उसकी बड़ी मेहरबानी होगी।

जगदीप ने एक कमरा खाली कर दिया। दो पलँग, एक मेज़ और छोटा-सा सोफा रखवाकर कमरे की चाबी अपने दोस्त को दे दी।

दूसरे दिन रात के दस बजे उसका दोस्त अपने साथ दोनों लड़कियों को लेकर आया। उन्होंने कमरा खोला। जगदीप ने अपने नौकर से रोटी बनवा रखी थी। रोटी खाते-खाते ग्यारह बज गए। दोनों लड़कियाँ और उसका दोस्त कमरे में बैठे हुए थे। कोई आध घंटा यारों ने ताश खेली और फिर जगदीप अपने कमरे में सोने के लिए चला गया।

जाने रात के कितने बजे थे, जब किसीने उसका द्वार खटखटाया। जगदीप ने दरवाज़ा खोला और उन दो लड़कियों में से एक लड़की उसके कमरे में आ गई।

जगदीप से अभी कुछ बोला भी नहीं गया जब कि उस लड़की ने कमरे का द्वार भीतर से बन्द कर लिया और रोशनी बुझा दी।

जगदीप की आवाज़ जैसे उसके गले में अटक गई, एक कोमल-सा जिस्म उसके साथ छुआ। पतली बाहें उसके गले के गिर्द लिपटी हुई थीं और एक सांस उसकी सांस को छूती थी।

जगदीप को लगा, जैसे वह होश गँवा रहा था और पानी की एक लहर में लिपटा हुआ था। जाने भरे हुए दरिया में वह किस ओर बहता जा रहा था। किनारा कहाँ छूट गया था, कितनी दूर था, उसे कुछ पता न चला। जगदीप के होंठों को किसीने अपने होंठों में घोल लिया था।

एक और लहर आई, उसके शरीर को धक्का-सा लगा। वह अपने पलंग पर जैसे गिर गया। उसे लगा कि किसीने उसे दरिया में से पकड़कर समुद्र में फेंक दिया था।

उसके मस्तिष्क में जैसे कई बादल गरज रहे थे। वह अकेला था, नितांत अकेला। बादल कड़कते थे, एक तूफान फुंकार रहा था। उसने घबराकर किसीको आवाज़ देनी चाही, पर उसे लगा कि जैसे बादलों की गड़गड़ाहट में उसकी आवाज़ खो गई थी। फिर बादलों की गरज में से एक बिजली चमकी और उसने बिजली की रोशनी में देखा कि वह कहाँ था:⋯एक पलँग था और एक पतली, कोमल-सी लड़की उसकी कमीज़ के बटन खोल रही थी। उसने तड़पकर पूछा—

"तू कौन है ?"
"कोई भी हूँ, आज की रात में तुम्हारी हूँ।"
"नहीं, नहीं, तू मेरी नहीं, तू चली जा।"
"कहाँ जाऊँ बाबू ?"
"मुझे नहीं मालूम, तू चली जा।"
"यह कैसा मजाक है बाबू ?"
"कोई मजाक नहीं—तू चली जा।"
"मुझे बुलाया क्यों था ?"
"किसने बुलाया है ?"
"तुम्हारे दोस्त ने।"
"कौन दोस्त ?"
"तुम्हारा दोस्त शंकर।"
"कहाँ है शंकर ?"
"साथ वाले कमरे में।"
"तू उसीके पास चली जा।"
"पर उसके साथ दूसरी लड़की है।"
"मैं नहीं जानता, कुछ नहीं जानता।"
"और मैं आज की रात ऐसे ही जाने दूँ ? मेरे पैसे कौन देगा ?"
"कैसे पैसे ?"
"शंकर ने मुझे कहा था कि मुझे पचास रुपये मिलेंगे।"
"पचास रुपये, कैसे पचास रुपये ?"
"आज रात-भर के।"
"मैं तुझे पचास रुपये दे दूंगा, तू चली जा।" लड़की ने एक रोष में भरकर अपने दोनों हाथों को मरोड़ा। उसके हाथों में पकड़ी जगदीप की कमीज फट गई"'क्या समझते हो बाबू, मैं कोई भीख माँगने वाली हूँ ?" लड़की ने अपने दोनों हाथों से अपना मुँह ढांप लिया। अब जगदीप को उसके सिसकने की आवाज सुनाई देने लगी।

बिजली कौंधकर चली गई थी और जाते समय पहले से भी अधिक अँधेरा फैला गई थी। उस अन्धकार में जगदीप को लगा, कोई इंसान उसके साथ लगा सिसक रहा था। जगदीप ने भींचकर उस सिसक रहे इंसान को अपने साथ लगा लिया, और फिर जैसे उसके आलिंगन में अपने को उसके सुपुर्द कर दिया।

"'जब जगदीप की आँख खुली, उसके माथे पर हाथ रखकर

शंकर हँस रहा था।

"साहब ! चाय पी लो, आज मैं तुम्हारा बैरा हूँ।"

"तू शंकर ?"

"मैं जानता था कि साहब की यह दशा होगी, इसीलिए नौकर को मैंने चाय लेकर आने नहीं दिया।"

"शंकर ?"

"कैसा सरपराइज़ दिया है।"

"खामोश रह, शंकर।"

"ऐसे क्यों बनता है यार ! मज़े से रात कटवाई है।"

अब जगदीप से कुछ नहीं बोला गया। शंकर खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला—"पहले तो यार तूने लड़की को डरा ही दिया।"

जगदीप फिर भी कुछ नहीं बोला। चुपचाप चद्दर परे हटाकर उसने गले की फटी हुई कमीज़ उतार दी और खूँटी से नई कमीज़ लेकर पहन ली।

मेज़ पर चाय पड़ी थी, जगदीप ने जैसे एक ही घूँट में पी डाली और फिर अलमारी में से सौ का नोट निकालकर शंकर के हाथ में पकड़ा दिया—"इस वक्त तू चला जा शंकर···एकदम चला जा।"

जगदीप अपने कमरे से बाहर नहीं गया। कुछ देर बाद पहले एक टैक्सी की आवाज़ सुनाई दी और फिर साथ वाले कमरे में से सबके चले जाने की आहट।

एक लम्बी साँस खींचकर जगदीप उठा और अपनी अलमारी के बड़े शीशे के आगे खड़ा हो गया। देखता रहा···देखता रहा, फिर जैसे शीशे में से दिखाई पड़ रहे चेहरे को वह पहचान न पाया। एक लम्बी साँस खींचकर वह शीशे के सामने से परे हटकर खड़ा हो गया।

९

जब से रामिन्दर ने नूरां का चित्र फाड़ा था, जगदीप ने सैकड़ों चित्र बनाए थे, पर उसमें सितारों की पोशाक वाली नूरां बनाने का साहस नहीं होता था। अभी ताज़ा घटना के बाद जगदीप को जैसे अपना आप झूठा लगने लग गया। एक ही विचार था, एक ही चेहरा था जिसे सोच-सोचकर जगदीप को अपना-आप सुच्चा लगता था। अब उस चित्र को फिर से बनाना उसकी लगन बन गया। बरसों पहले

जब वह आर्ट स्कूल में पढ़ता था और गाँव वाले चौबारे में बैठकर उसने अपनी कच्ची-पक्की कला से नूरां का जो स्कैच बनाया था, वह फिर से टटोला और उसका सहारा लेकर अपनी कल्पना में रंग भरने लग गया।

दिन-दिन चित्र बनता गया, उससे भी सुन्दर, कहीं सुन्दर, जो रामिन्दर ने फाड़ दिया था। जैसे ही चित्र तैयार होता गया, जगदीप को अपना-आप ठिकाने आता लगता रहा। और जिस दिन चित्र को फ्रेम करके जगदीप ने अपने स्टूडियो में लगाया, उस दिन उसे लगा कि उसके माथे पर से हथौड़े की चोट का निशान मिट गया था।

१९४६ के आखिरी दिन थे, जब जगदीप का मन दिल्ली से ऊब गया। अजन्ता-एलोरा की गुफाएँ और दक्षिण भारत के प्राचीन मन्दिरों की मूर्तियों ने उसे आवाज़ दी। अपने दो कमरे बन्द करके उसने तीसरा कमरा अपने एक दोस्त को रहने के लिए दे दिया और स्वयं अपनी कला के आह्वान पर चल दिया।

१९४७ गुज़रा और ४८ भी बीत गया जब वह दिल्ली लौटा था। समाचारपत्रों में उसने बड़ा कुछ पढ़ा था। गाँव से उसे जब भी पैसे आते थे, चाचा की कुशलता का भी पता चल जाता था। पंजाब के सम्बन्ध में बड़ा कुछ लिखा होता था, पर जो कुछ उसने दिल्ली आकर देखा, वह उसकी सोच से बाहर था, जबकि लोग कहते थे कि जिन्दगी अपने ठिकाने पर आ गई थी। वह लोगों के मुरझाए मुँह ताकता। लाखों के मालिक कंगाल हो गए थे और जो लोग अपने परिवारों को खो आए थे, उनके मुँह ऐसे थे जैसे उनके अंग खो गए हों और वे अब अंगहीन इस धरती पर रेंग रहे हों। जगदीप को कभी १९४७ की भयंकरता बहुत बड़ी लगती, और कभी उस भयंकरता के मूल्य से खरीदी गई देश की स्वतन्त्रता प्रिय लगने लगती।

जगदीप ने अपना स्टूडियो फिर से संवारा-बनाया। यद्यपि पिछले बरसों में उसके हाथ कला से और अधिक समृद्ध हो गए थे, पर अभी काम में दिल नहीं देते थे। जगदीप उदास हो गया, और उसने चाचा को चिट्ठी लिखी कि वह कुछ दिनों के लिए गाँव आ रहा है।

चाची ने जगदीप का माथा चूमकर जिस चाव से कहा—"मैं सदके जाऊँ!" जगदीप को एक बार तो ऐसे लगा जैसे वह चौदह बरस के बनवास के पश्चात् अयोध्या लौट आया हो।

"चाची, कैसी रही ?" जगदीप ने बार-बार पूछा।

"तेरा मुंह देखने को ही शायद जिन्दा रही हूँ, नहीं तो पंजाब ने बड़े भयंकर दिन देखे हैं।"

"यहां हमारे गाँव में भी कुछ हुआ था ?"

"बच्चा ही रहा सारी उम्र ! हमारे गाँव में क्या देवताओं का निवास था ?"

"पर यहां तो क्या हिन्दू और क्या मुसलमान—सब भाइयों की तरह थे।"

"सब जगह भाइयों की तरह थे, फिर तो जैसे सबको भूत चिपट गए।"

"कोई बुरी घटना भी घटी ?"

"गाँव में किसी का जाना-पहचाना चेहरा दिखाई देता है ? जाने कहाँ से ले आए हैं। यहां के लोग उजड़कर वहां जा बैठे हैं और वहां के उजड़कर यहां।"

जैसे अचानक किसी को अपने पैरों के आगे साँप दिखाई दे जाए, जगदीप को एक विचार आया और उसने सहमकर चाची के चेहरे की ओर देखा।

"क्या बात है दीप ?"

"चाची बेगमां ?"

"बेगमां बेचारी जाने कहां भटक रही होगी, यहां से तो अपने बच्चों के साथ बचकर निकल गई थी। तेरा चाचा और दो आदमी साथ के गाँव तक पहुँचा आए थे। आगे उसके भाग्य हुए तो पहुँच गई होगी किसी ठिकाने, नहीं तो भगवान् ही जाने !"

"बच्चे ?"

"नूरां और घरवाला भी साथ थे, दो बच्चे थे नूरां के।"

"तो वे सचमुच यहां से चले गए हैं ?"

"पागल तो नहीं तू, यहां जान गंवानी थी ?···एक दिन मुश्किल से बचे थे, उनके घर को किसी ने आग लगा दी थी।"

"आग ?"

"देख लो सही जाकर, खण्डहर पड़ा है, हाँ सच······।"

"क्या चाची ?"

"घर के पिछवाड़े में जो बरगद था, उसे तो नूरां ने लगाया था न ?"

जगदीप से कुछ कहा नहीं गया।

"पिछली दीवार जब गिरी, वह बरगद भी गिर गया।"

जगदीप को लगा कि उसका सारा शरीर कांप रहा था।

"जाते समय नूरां मेरे गले से चिपटकर बड़ा रोई, बहुत रोई। कहने लगी कि घर का तो उसे कोई गम नहीं, उन्होंने वहाँ रहना ही कहाँ था, पर वह बरगद न गिरता, वह दीप की निशानी थी···।"

अब जगदीप से झेला नहीं गया। एक अबोध—बिलकुल अबोध बालक की तरह वह चाची के आँचल में मुँह छिपाकर रोने लग गया। जगदीप को याद नहीं था कि वह अपनी उम्र में कभी रोया हो। आज उसे लगा कि उसका रोना बरसों से थमा हुआ था।

"किसी एक के साथ थोड़े ही हुआ दीप, सबके साथ हुआ है," चाची बराबर जगदीप की पीठ को थपथपाती और कहती, "जो लोग उधर से आए हैं, और जो वे कहते हैं, सुनकर पैरों के नीचे से जमीन खिसकती है। तेरे मामा की तबदीली ही जालन्धर हो गई थी, नहीं तो जाने उनका क्या हाल होता; लाहौर में भी सुना है कि कोई कसर बाकी नहीं रही।"

सन्ध्या समय जगदीप ने मुँह-हाथ धोया। चाची ने जोर देकर उसे कुछ खिलाया। जगदीप को लगा, उसकी भूख मिट गई थी। खाने की भूख खत्म हो गई, जीने की भूख भी जाती रही······

जगदीप के पैर रुके नहीं। एक मोड़ गुजरा, और फिर दूसरा मोड़। उसने बेगमां के ढह गए घर को पहचाना, खण्डहर में भी एक छप्पर-सा डालकर कुछ लोग रहते थे। वह दरवाजे के आगे से गुजर गया। पीछे गया और पागलों की तरह उस जगह को टटोलता रहा, जैसे कोई खोई हुई सूई ढूँढ रहा हो।

—माँ के हाथों की छाया किसी को नहीं चाहिए नूरां! न हिन्दुओं को और न मुसलमानों को······।—जैसे उसके भीतर से कोई कह रहा था।

१०

सारा कश्मीर घूमकर जब जगदीप इच्छाबल आया तो उसके मन को कुछ शान्ति-सी मिली। बहुत-से लोगों को शायद इस जगह ज्यादा चहल-पहल नहीं मिलती थी, वे आते थे और फिर चल देते थे। जगदीप

को लगा, यह जगह उसे अपने पास रहने के लिए एक आवाज दे रही थी। बहुत सारे कमरों की एक बिल्डिंग थी, बड़े थोड़े-से किराये पर उसे एक अच्छा सा कमरा मिल गया था। कमरे की पिछली खिड़की जैसे प्रकृति के आंचल में खुलती थी। वह जाने कितनी देर कमरे के सारे पर्दे तानकर खिड़की खोल लेता। कभी उसके मन में आता कि वह कुदरत के आंचल में जाकर उसकी विशालता में खो जाए, उसकी हरियाली से ढंका जाए पर कभी-कभी उससे यह सुन्दरता सहन न होती। वह किसी फूल-पत्ती को छू न सकता। सौन्दर्य की विशालता से डर जाता और खिड़की में बैठकर उसे दूर से निहारता रहता।

एक दिन बाग की झील के किनारे बैठकर जगदीप अपने कागज और रंगों में लीन था। उसे झील के पानी में एक परछाईं कांपती दिखाई दी। बड़ी ही सुन्दर-सी प्रतिमा थी। जगदीप का दिल हुआ, वह पीछे मुड़कर देखे कि परछाईं किसकी थी, पर फिर उसे लगा, जाने उसके देखने से परछाईं वाली लड़की वहां से चल दे। फिर पानी में कोई परछाईं नहीं पड़ेगी और सामने की झील खाली हो जाएगी। वह अपने कागजों पर झुका रहा और झील का पानी, पानी में कांपती परछाईं उसके कागज पर उतरने लग गई।

बड़े हल्के-हल्के रंग उसके कागज पर उतरते रहे। झील के पानी को और पानी में हिलती परछाईं को जब उसने अपने कागज पर संभाल लिया, उसे परछाईं के खो जाने का जैसे डर न रहा और उसने जब पीछे की ओर देखा तो वहां फूलों से लदे एक वृक्ष के पास कोई लड़की खड़ी थी।

किसी चित्र के अंगों में जैसे जान आ जाए, लड़की उसकी कल्पना-सी प्रिय थी। जगदीप ने देखा, उस लड़की का ध्यान उसकी ओर नहीं था। उसकी दृष्टि दूर वृक्षों में खोई हुई थी। पहलगाम के खेमों में रहते उसने कई लोग देखे थे—बर्तनों की खड़खड़ाहट और पार्टियों की चहल-पहल में बड़ी प्रसन्नचित्त औरतें; घोड़ों पर लम्बी-लम्बी सैर करती बड़ी ही शोख और सुभावनी लड़कियां; पेड़-पौधों के झुरमुट में ताश खेलती, हंसती और गाती युवतियां; रंग-बिरंगे कपड़े पहने एक मेला बनाकर चलती औरतें। कश्मीर की सैर करने के लिए आए परिवारों में उसे इससे पृथक् और कुछ नहीं मिला था।

आज जगदीप को लगा, यह लड़की इस धरती की नहीं थी। पिछले एक घण्टे से इस तरह अडोल वहां खड़ी थी, जैसे फूलों के बाग

में चुपचाप एक ओर फूलों वाली बेल उग आई हो। और अपने सारे चौगिर्द में ऐसे रची हुई लगे जैसे वह दूसरे पेड़-पौधों से पृथक् न हो।

एक सन्तोष-सा मन में भरकर जगदीप वहाँ बैठ रहा। कभी वह दूसरे पेड़-पौधों को देखता और कभी एक पेड़ की भाँति उग आई उस लड़की को। फिर जगदीप ने देखा—कोई युवक वहाँ आया, उसने लड़की के कन्धे पर अपना हाथ रखा। लड़की ने चौंककर, मुस्कराकर उसकी ओर देखा और फिर वे दोनों वहाँ से चल दिए। जगदीप ने अपने हाथों अपने बनाए चित्र को टटोला, वह वही था। जगदीप ने बड़े ध्यान से चित्र की ओर देखा, कागज पर झील का पानी और पानी में काँपती परछाईं वही थे, कहीं नहीं गए थे।

रात को जब जगदीप अपने कमरे में सोने के लिए आया, उसकी निगाह दूसरे कमरों पर भी गई। उसके कमरे से कोई तीन कमरे छोड़कर जो कमरा था, उसीमें वह लड़की और उसका साथी, जो शायद उसका पति था, ठहरे हुए थे।

दूसरे दिन बाग में उसने दो-तीन आदमियों को बातें करते हुए सुना : "रेखा यहाँ आई हुई है, रेखा और उसका पति।" जगदीप ने रेखा का नाम सुन रखा था, उसे बड़े कम लेखक आकर्षित कर पाए थे, कहानी से कविता उसे अधिक पसन्द थी कभी-कभी कोई कविता उसके भीतर रचती लगती थी। अपने देश के उसे जितने लेखक पसन्द थे, रेखा उनमें से एक थी। उसने रेखा की पुस्तकें खरीदकर अपने पास रखी हुई थीं······वही रेखा होगी, अवश्य होगी, जो लड़की मैंने कल देखी थी। वह रेखा के बिना और कोई नहीं हो सकती—जगदीप ने मन ही मन में कहा।

उस दुपहर को जगदीप ने रेखा के कमरे का दरवाजा खटखटाया। रेखा कमरे में ही थी, उसका पति भी वहाँ पर था। दोनों ने जगदीप को बड़े सम्मान के साथ कमरे में बिठाया।

"मेरा नाम जगदीप है।"

"जगदीप···चित्रकार?"

"आपने सुन रखा है?"

"हैरानी इस बात की नहीं, बल्कि इसलिए होती है, अगर न सुना होता।"

"मेहरबानी!"

कितनी ही बार प्रदर्शनियों में आपकी चीजें भी देखी हैं। पिछले दिनों एक अखबार ने आपके कितने ही चित्र प्रकाशित किए थे।"

"आप मेरे फेवरिट लेखकों में से हैं, इस समय भी मेरे कमरे में आपकी दो पुस्तकें पड़ी हैं।"

"अब फिर मेहरबानी मैं कहूँ ?"

सारे हँस दिए। जगदीप को रेखा का पति भी बड़ा अच्छा लगा।

आने से पहले जगदीप को झिझक-सी थी, रेखा से नहीं, उसके पति से। पर वह रेखा से भी बहुत अधिक मिलनसार लगता था। उसने अपने नौकर से कहकर चाय मंगवाई और अपने हाथों जगदीप के लिए चाय का प्याला बनाया।

"कितने दिन रहेंगे आप ?" जगदीप ने रेखा के पति से पूछा।

"रेखा को सारे कश्मीर में यह जगह बहुत अच्छी लगी है। हम जितने दिन भी रहे, यहीं रहेंगे। रेखा के पति ने कहा।

कल वाला स्केच जगदीप अपने साथ लेता आया था, पर उसने सोच रखा था कि अगर दिखाना ठीक लगा तो दिखाऊँगा, नहीं तो लौटा लाऊँगा; पर अब जगदीप को दिखाने में कोई झिझक नहीं लगी।

"कल आप झील के किनारे खड़ी रही थीं न ?"

"हाँ। वहाँ किनारे पर कोई चित्र बना रहा था, आप थे ?"

"आपकी परछाईं पानी में पड़ रही थी, मैंने स्केच किया था।"

जगदीप ने कागज खोला। पहले रेखा के पति ने पकड़ लिया। "बड़ा प्यारा, बड़ा ही प्यारा।" उसने कहा।

"इसमें से रेखा जी को पहचाना नहीं जाता। सिर्फ परछाईं है।"

"परछाईं तो और भी सुन्दर लगती है।" रेखा के पति ने कहा।

"अगर आप कहें, मैं इनका स्केच कर दूँगा एक दिन।"

"जरूर, जरूर !"

चाय खत्म हुई, और जब जगदीप चलने लगा; रेखा ने कहा, "यहाँ कश्मीर आकर आपने बड़ा कुछ बनाया होगा, किसी दिन दिखाएँगे ?"

"जिस दिन भी आपका मन हो। आपसे तीन कमरे छोड़कर मेरा कमरा है।"

दूसरे दिन, और फिर उससे दूसरे दिन भी रेखा और उसका पति जगदीप के कमरे में आए। जगदीप ने रेखा का स्केच बना दिया।

सादी पेन्सिल-ड्राइंग थी और फिर जगदीप ने कहा, "मैं कुछ दिन लगाकर आपका रंगीन चित्र बना दूंगा।"

"मेरा चित्र बनाने की बजाय......"

"कहो......"

"बहुत बड़ी बात लगती है।"

"कहो तो सही।"

"अगर मेरे किसी गीत की पंक्तियों को......"

"मैं जरूर बना दूंगा, जो भी पंक्तियाँ कहें......"

फिर एक दिन रेखा ने जगदीप के कमरे में आकर कहा, "आज मुझे सब चित्र दिखाइए, अगर आपके पास समय हो......"

"वे साथ नहीं आए ?"

"रात एक तार मिला था और वे चार-पाँच दिन के लिए जम्मू चले गए हैं।"

"आप अकेली रहेंगी ?"

"कोई डर की बात नहीं, नौकर बड़ा पुराना है, बड़ा अच्छा है, और वे चार-पाँच दिन में तो आ ही जाएँगे...।"

"अगर मेरी कभी जरूरत पड़े...।"

"आप नजदीक ही हैं, अगर कोई जरूरत हुई तो...।"

जगदीप ने अपना सूटकेस खोला। कई चित्र तो बाहर ही थे, कमरा ही जैसे कागजों से भरा पड़ा हो, मेज पर कागज, कुर्सियों पर कागज, पलंग पर कागज! एक चित्र जगदीप ने दीवार पर लगा रखा था। ये सब चीजें रेखा ने देखी हुई थीं। आज जगदीप उसे सूटकेस में संभालकर रखे चित्र दिखाने लग गया।

"यह दीवार पर जो चित्र है, जिसके नीचे 'सपना' लिखा हुआ है, यह किसका चित्र है ?"

जगदीप से तुरन्त उत्तर देते नहीं बन पड़ा। फिर संभलकर उसने कहा—'नूरां का।' नूरां कौन थी और कहां थी—रेखा जैसी लड़की को पूछने की जरूरत नहीं थी। जगदीप की झुकी पलकों ने जो कहानी कही, वह रेखा ने सुन ली थी।

"कभी-कभी मुझे लगता है, लिखने का मीडियम अधूरा है।" रेखा ने कहा।

"पूर्ण तो कोई मीडियम भी नहीं होता। चाहे कितना कुछ भीतर से निकाले जाओ। लगता है, बात नहीं बनी।"

"वैसे तो यही चीज होती है जो बार-बार लिखवाती है, उत्तरोत्तर अपना विकास माँगती है"'पर शब्दों का सहारा बड़ा मधुर होता है, बड़ा ही करुण'''।"

"पर कई रचनाएँ तो आदमी को हिला देती हैं।"

"मुझे अपनी किसी-किसी पंक्ति में सन्तोष का अनुभव होता है, पर अन्त में कोई संतोष नहीं होता, जैसे कुछ भी शब्द की पकड़ में नहीं आता।"

"आपने मुझसे एक दिन कहा था, मैं आपकी कोई पंक्तियाँ''' आपको अपनी कौन-सी पंक्तियाँ पसन्द हैं?"

"कुछ भी पसन्द नहीं'''कभी-कभी तो मुझे लगता है मैं कुछ न लिखूँ'''लिखना भी मुझे'''।"

"क्या कहने लगी थीं?"

"कुछ नहीं।"

आगे खामोशी नहीं टूटती थी। फिर जगदीप को एक सहारा हाथ लग गया, और उसने कहा—"आपकी वे पंक्तियाँ'''हृदय में चिनगारी सुलगाकर साँस जब लेता है कोई,'''"

"वे कल्पना से कही गई हैं।"

"हाँ।"

"पर कल्पना का हमारी दुनिया में कोई अर्थ नहीं होता, दुनिया गिनती-मिनती का एक सवाल होती है, कोई भी पढ़ सकता है, पर कल्पना का अर्थ न गिना जाता है, न मापा जाता है'''।"

"हम कुछ लोग पागल होते हैं, जीते ही कल्पना के सहारे पर हैं।"

"पर एक समय वह आता है, जब हमारी कल्पना हमारा ही मजाक उड़ाती है'''हमारे भीतर एक ऐसा सवाल डाल देती है कि जिसका उत्तर शायद बना ही नहीं होता'''।"

जगदीप को लगा, यद्यपि उसके मन में पानी कभी नहीं रुके थे, लहरें बन-बनकर उसके जिस्म को लगते रहते थे, पर कभी जब वह कोई चित्र बनाया करता था, उसे लगने-लगता था कि उन पानियों पर कोई पुल बन जाता था, वहाँ खड़ा होकर वह पानियों की विशालता तो देख सकता था, और कुछ देर के लिए लहरों के थपेड़ों से बच जाता था पर इस क्षण जगदीप को लगा, कला का पुल भी टूटता जाता था और पानी की लहरों में उसके पैर उखड़ रहे थे। रेखा ने यह क्या कहा था: कल्पना हमारे भीतर कोई सवाल डाल देती है, जिसका

जवाब शायद बना ही नहीं होता।···जगदीप सोचा करता, यह सवाल सिर्फ उसके अन्दर था, सिर्फ उसीके अन्दर···आज उसे लगा, यह सवाल रेखा के अन्दर भी था। और न जाने कितने लोग उस जैसे या रेखा के समान होते होंगे, जिनके अन्दर यह सवाल होता होगा, और जैसे सवाल डालने के लिए वे कविता लिखते होंगे, वे चित्र बनाते होंगे वे संगीत के स्वरों को जोड़ते होंगे···कभी किसी को जवाब नहीं मिलता था, कोई भी भगवान जवाब नहीं दे सकता था···पर जिस सवाल का जवाब ही नहीं, कभी नहीं बना—वह सवाल कहाँ से मन में पड़ जाता था, क्यों पड़ जाता था, उसका अस्तित्व कहाँ से बनता था, क्यों बनता था···

"मुझे आज तक पता नहीं चला, जो भी पढ़ती हूँ जो भी लिखती हूँ, सवाल जैसे और भी बड़ा होता जाए, और जवाब कोई न हो।"

"लोग लेखकों के संबंध में कहते है कि उनके पास जिन्दगी का हल होता है।"

"यह हल शब्द मुझे मजाक लगता है, मैं तो जैसे-तैसे देखती हूँ, भीतर का खलाव जैसे बढ़ता जाता है, हरेक क्षण बढ़ता जाता है। सारे शब्द और सारी बातें जैसे हमारे गिर्द एक शोर-सा डाल देती हैं। हमारी शोहरत, हमारी प्रसिद्धि [illegible]....."

रेखा जैसे हाँफ गई थी।

में चली गई और उसकी दृष्टि [illegible]
गई।

"मुझे अपनी कोई ऐसी चीज सुनाएँ, जो आपको भी कभी अच्छी लगती हो।" जगदीप ने बड़ी देर बाद रेखा के पास खिड़की में आकर कहा।

"दो चार पंक्तियाँ हैं, कभी-कभी लगता है, उनमें मैंने कुछ कहा हो।"

जगदीप ने कुछ नहीं कहा। रेखा धीरे-धीरे वे पंक्तियाँ गुनगुनाने लगी :

मेरी रात जाग रही है तेरा ख्याल सो गया है
सूरज का वृक्ष तो खड़ा है पर आज किसीने किरणें तोड़ ली हैं।
आज किसीने चाँद की किनारी अम्बर के आँचल से उधेड़ ली है।

फिर न रेखा बोल पाई और न जगदीप। जाने कितनी देर हो गई। जगदीप ने एक बार इतना-भर कहा, "मेरे पास शब्द नहीं हैं,

उस रात जब जगदीप अपने हाउस बोट में सोया पड़ा था—उसने देखा, रेखा उसके पलंग से थोड़ी ही दूरी पर खड़ी थी, बड़ा प्यारा और देवी चेहरा था रेखा का। रेखा की आँखों में जाने क्या था, जगदीप से वे झेली न गईं। उसने एक मिन्नत के स्वर में कहा : "बैठ जाइए रेखा।"

रेखा खामोश रही, अपनी जगह पर अडोल खड़ी रही और फिर धीमी-सी रेखा की आवाज सुनाई पड़ी—"मैं नूरां कैसे बनूं?"

जगदीप चौंककर उठ बैठा। कैसा विचित्र सवाल था···फिर उस रात जगदीप सो न सका। अगली सवेर जब जगदीप रेखा से मिला, उसने अपनी हैरानी को समेट लिया था। रेखा के साथ बैठकर उसने रोटी खाई और फिर दिन का बाकी समय बिताने के लिए वे शिकारे में बैठकर डल के किनारे आ गए और एक बाग में चले गए।

बातें करने की जैसे जरूरत खत्म हो गई थी, या इतनी जरूरत पड़ गई थी कि हरेक बात काफी नहीं लगती थी। कितनी देर दोनों में से किसी ने बात भी शुरू नहीं की। रेखा को बैठने के लिए पीले फूलों वाले वृक्ष की छाया अच्छी लगी।

"यहाँ बैठ जाएँ?"

"हाँ!"

"आप पहले यहाँ पर आए हैं?"

"मुझे लगता है कि मैं पहले कहीं भी नहीं आया।"

जगदीप ने इतना गम्भीर होकर कहा था, रेखा ने एक बार उसकी ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं। "आप थक से गए लगते हैं, थोड़ा-सा आराम कर लें।" कुछ देर बाद रेखा ने कहा।

वृक्ष के नीचे जैसे पीले फूलों का बिछौना बिछा था। जगदीप वृक्ष की ओट लिए बैठा रहा। फिर उसने कहा : "हवा से कोई-कोई फूल गिरता है। मेरा दिल करता है, इतने फूल गिरें···इतने कि मैं उन्हीं में लिपट जाऊँ। फूलों की कब्र बन जाए, और मैं कब्र में सोया रहूँ।···"

रेखा ने कुछ नहीं कहा। फूल झरते रहे, जगदीप पर भी, रेखा पर भी। दुपहर की धूप में सन्ध्या का अँधेरा घुल गया।

"चलें?"

"चलो।"

कोई घंटों पश्चात् दोनों ने एक-दूसरे की आवाज सुनी।

बारादरी की पथरीली दीवारों को खोद-खोदकर लोगों ने अपने नाम लिख छोड़े थे। जगदीप को वे ऐसे लगे जैसे दृष्टि के पैरों के आगे कंकर आ जाएं। "इस तरह किसी को अपना नाम लिखने में क्या सन्तोष मिलता है!" जगदीप ने कहा।

"बेचारे लोग दिलों की दीवार पर नाम नहीं लिख सकते, समय की दीवार पर नाम अंकित नहीं कर सकते। और इस तरह एक तसल्ली-सी ढूंढ़ते हैं।" रेखा ने धीमे से कहा।

जब वे बाग में से लौट रहे थे, रेखा एक सरू के पेड़ के पास खड़ी हो गई। दोनों हथेलियों में रेखा ने सरू के पत्तों को कितनी बार पकड़ा और छोड़ दिया। फिर पत्तों के साथ लगे हुए, हरे दाने उतार लिए—दोनों हाथों में भर लिए। बाग से बाहर निकले थे, जब रेखा ने वे दाने जगदीप की हथेली पर पलट दिए। जगदीप ने सारे दाने अपनी जेब में डाल लिए।

रेखा को उसके हाउस बोट में छोड़कर और रोटी खाकर जब जगदीप अपने हाउस बोट को लौटा तो उसने जेब में से सारे दाने निकालकर अपनी मेज़ पर रख लिए और फिर उसे जाने क्या ख्याल आया, उसने अपने सूटकेस में से सुई-धागा निकाल उन दानों की माला पिरो ली।

अगला दिन जगदीप और रेखा ने जिस बाग में बिताया, उसके किनारे पर बारादरी का एक ऊँचा कोना अभी जैसे का तैसा खड़ा था। सीढ़ियाँ चढ़कर जब जगदीप और रेखा ऊपर गए, उसका एक छोटा-सा कोना छोटा-सी खिड़की जैसा था, और इस खिड़की में खड़े होते ही जगदीप जैसे चौंक पड़ा। पिछली रात जगदीप ने एक स्वप्न देखा था कि एक घने जंगल में छोटी-सी झोंपड़ी है, घास-फूस की छत और मिट्टी से पुती हुई दीवारें। वह और रेखा उस झोंपड़ी में खड़े होकर इर्द-गिर्द के भरे-पूरे जंगल को देखते हैं···जगदीप को लगा, टूटे-फूटे पत्थरों की बारादरी का यह कोना वह झोंपड़ी था, यहाँ वह रेखा के पास खड़ा भरपूर जंगल को देख रहा था।

"क्या सोचते हो!" रेखा ने हौले से पूछा।

"अब मुझे लगता है, मैं एक दिन में ही बहुत बरस बड़ा हो गया होऊँ···।" जगदीप ने और अधिक कुछ नहीं कहा।

उस संध्या को जब जगदीप और रेखा लौटे, तो कहीं बैठकर उनका चाय पीने को दिल हुआ। एक अच्छा-सा होटल था। भीतर

गए, उनका दिल चाहता था कि अधिक भीड़ न हो, पर कमरे में बहुत लोग थे। एक ओर मेज खाली था, वे बैठ गए। चाय अभी आई नहीं थी, और लोगों की निगाहें पहले ही आ गईं।

जगदीप और रेखा ने लाख यत्न किया कि उन्हें चाय के प्यालों के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई न दे, पर आपस में बातें करते हुए भी धीमी-सी कोई आवाज सुनाई पड़ ही जाती—"रेखा···कवयित्री···" और अपने ध्यान में बैठे जगदीप और रेखा को अपने जिस्मों पर लोगों की आँखें चुभने लग गईं। चाय का प्याला खत्म होते ही रेखा उठ खड़ी हुई। जगदीप ने अपना आधा प्याला बीच ही में छोड़ दिया, चाय का बिल दिया और वे बाहर आ गए। शिकारे में बैठकर जब वे हाऊस बोट को लौट रहे थे, रेखा ने कहा—"औरतों की जिन्दगी भी कठिनाइयों से भरी हुई है!"

अगली सवेर रेखा को चल देना था। उस रात जगदीप सो न पाया। तनिक आँख मिचती तो उसे रेखा का मुँह दिखाई पड़ता और फिर देखते-देखते वह नूरां का मुँह बन जाता। जगदीप चौंककर जाग पड़ता, कई बार पलंग पर से उठकर हाऊस बोट की खिड़की में खड़ा हो जाता। बाहर डल के पानी में भी शान्ति नहीं थी, जैसे पानी के पैरों को भी खड़ा होने की जगह न मिलती हो। जगदीप फिर पलंग पर आ जाता, तनिक आँख मिचती, नूरां का भोला और मासूम चेहरा उसके सम्मुख होता और फिर मासूम चेहरे पर बरसों की गम्भीरता आ जाती और वह रेखा का मुँह बन जाता।

सवेर हुई। जगदीप रेखा के हाऊस बोट में गया, रेखा अपना सामान संभाल रही थी।

"मेरा स्केच मुझे नहीं दोगे?" रेखा ने कहा।

"मैं लेकर आया हूँ।"

"और वह दूसरा?"

"कौन-सा?"

"झील की परछाईं वाला।"

"परछाईं मेरे पास रहने दो।"

रेखा खामोश हो रही। सामान संभालने में लगी रही। नौकर ने मेज पर चाय ला रखी थी। रेखा ने दो प्याले बनाए, और प्लेट में बादामों की भुनी हुई गिरियाँ डालती हुई बोली :

"ज़िन्दगी की चिनगारी बड़ी प्रबल होती है।"

"सारी कला इस भीतर की चिनगारी से जागती है।"

"जैसे ज़िन्दगी को कला प्यारी हो और आदमी प्यारा न हो।"

"शायद।"

"आदमी चाहे सारी उम्र उस चिनगारी से जलता रहे, ज़िन्दगी कला बनाती रहेगी। कौन जानता है, आदमी को कला का क्या मोल अदा करना पड़ता है। पता होता है कि धूप से चमकती रेत पानी नहीं होती, पर फिर भी उससे पानी का भ्रम होता है, आदमी उसके पीछे दौड़ने लग जाता है···।" रेखा ने चाय का दूसरा प्याला बनाया और फिर कहने लगी, "कल रात मुझे ऐसे ही दिखाई पड़ा जैसे रेगिस्तान में फूल खिले हुए हों···हरेक जगह पर सफ़ेद कलियाँ जहाँ भी देखूं दूध-सी सफ़ेद कलियाँ···और मैंने कलियाँ तोड़-तोड़कर अपनी झोली भर ली···फिर मुझे दिखाई दिया···बहुत कुछ दिखाई दिया ···मैं सुबह उठकर लिखती रही। रेखा ने एक कागज़ जगदीप को पकड़ा दिया।

जगदीप ने पढ़ा :

ज़िन्दगी, अपना द्वार बन्द न करो। सिदक की लाज रख लो।
सुनो रेगिस्तान के किसी के क़दमों की आवाज़ आ रही है
ज़िन्दगी अपना द्वार बन्द न करो। ज़रा एक बार देखो
मस्तक पर किरणें बाँधकर सूर्य फिर से आया है

जगदीप का माथा झुक गया, हाथ में पकड़े कागज़ तक झुक गया।

नौकर ने मेज़ पर से खाली प्याले उठा लिए। जाने का वक्त हो गया था। "यह मैं रख लूं?" जगदीप ने हाथ में पकड़े हुए कागज़ की ओर देखकर कहा।

"हाँ।" रेखा ने इससे अधिक कुछ नहीं कहा।

"यह मेरे लिए ज़िन्दगी का सन्देश होगा।"

"ज़िन्दगी का हर सन्देश एक भ्रम होता है।" फिर दोनों में से कोई नहीं बोला। हाउस बोट का किराया देकर रेखा और जगदीप बस के अड्डे पर आ गए। रेखा के लिए जगदीप ने सीट ले रखी थी। सामान रखा गया। समय हो गया, और फिर जब बस चली तो सड़क पर पीछे रह गई धूल को देखकर जगदीप को लगा : आज नूरां उसके पास से दूसरी बार खो गई थी।

११

इस बार जगदीप ने चाची से वादा कर रखा था कि वह कश्मीर से लौटते समय गाँव होकर दिल्ली जाएगा। साथ ही चाची ने उसे कहा था—"मुझे वीरां मिली थी, तेरी नई शाहणी, किसी की शादी पर आई थी, तुझे याद करती थी!"

"भली-चंगी थी ?"

"हाँ, उसे तो जैसे फिर से जवानी चढ़ी हुई थी।"

"सच!"

"कहती थी कि मैं दीपे का अहसान नहीं उतार सकती, उसने तो मेरा जन्म संवार दिया है।"

"कुछ और कहती होगी।"

"कहती थी, हमने साथ वाले गाँव में काफी जमीन खरीदी है। उसके दो बड़े प्यारे बच्चे हैं। बार-बार तेरा नाम लेती थी कि दीपे से कहना, मुझे एक बार तो मुँह दिखा जाए।"

"अच्छा चाची, जाऊँगा कभी!"

उस बार जगदीप को नूरां के गम ने कहीं नहीं जाने दिया। अब कश्मीर से लौटते हुए फिर उसकी याद आई और जगदीप अपने गाँव चला आया। कोई पाँच-छह दिन जगदीप चाची के पास रुका, और फिर नई शाहणी का गाँव पूछकर वह उसे मिलने चल दिया। पूछ-पुछाकर घर ढूँढ़ लिया।

"री, मैं सदके जाऊँ—मेरा दीपा!" शाहणी के पैर जमीन पर नहीं लगते थे।

"खुश है शाहणी ?"

"मुझे शाहणी क्यों कहता है, मैं तो तेरी वीरां हूँ, वही वीरां!"

"तू सचमुच शाहणी है वीरां, शाह दिल से बनते हैं।"

"मैं तो कंगाल थी दीप, तूने ही मुझे शाहणी बना दिया।"

वीरां ने सेहन में नवार की खाट डाली। अन्दर से कोरा खेस निकाल लाई बिछाने के लिए।

"तू तो मुझे भूल ही गया दीप!" वीरां जब दूध का गिलास भर चुकी तो उसने जगदीप के पास बैठकर कहा।

"इतनी दूर से तुझे मिलने आ रहा हूँ, भूल कैसे गया हूँ!"

"कहते हैं कि अब तू बड़ा आदमी हो गया है।"

"मापकर देख ले, कितना बड़ा हो गया हूँ।"

"वही दीपा है तू तो, मैं सोचती थी कि जाने अब तू हमारे साथ बात भी करेगा ?"

"क्यों अब मुझे क्या हो गया है ?"

"अब तो अखबारों में तेरी तस्वीरें छपती हैं। हमारे गाँव में भी अखबार आती है। जब मैंने पहली बार तेरी तस्वीर देखी, तो सबको दिखाती फिरी—'मेरा दीपा'''संभालकर ट्रंक में रख छोड़ी है।'"

"सचमुच ?" जगदीप हँस दिया।

"मैंने कहा, अभी तू शादी नहीं कराएगा ? बूढ़ा होकर कराएगा क्या ?"

"मुझसे शादी करती कोई नहीं'''"

"हूँ। बातें बनानी आती हैं, वैसे कह कि कोई तेरी निगाह में टिकती नहीं।"

"सच—निगाह में तो टिकती हैं पर'''"

"फिर पर क्या हुआ ?"

"या कोई और जगह शादी कर लेती है, और या वह पहले ही ब्याही हुई होती है।" जगदीप खिलखिलाकर हँस दिया।

"बातें कितनी बनाता है, शहर में रहते हुए तुझे बातें बनानी खूब आ गई हैं।"

"तुझे भी तो आ गई हैं—पहले तू बात नहीं किया करती थी।"

"जा परे!" वीरां लजा गई।

"बच्चे कहाँ हैं'''?"

"तुझे किसने बताया।" वीरां लज्जा से लाल हो गई।

"अच्छा, यह बता, वे मेरे क्या लगे ?" जगदीप ने हँसते हुए पूछा।

"मैंने तेरी तस्वीर उन्हें दिखाई थी और कहा था, वह तुम्हारा मामा लगता है।" वीरां की हँसी फूट पड़ी।

"मामा किस रिश्ते से ?" जगदीप ने वीरां की पीठ पर एक हलकी-सी थाप जमाई।

"हँट परे!" वीरां हँसते-हँसते दोहरी हो गई।

"पर दिखा तो सही'''मुझसे छिपाकर रखेगी ?"

"ननिहाल गए हुए हैं। रात को जाने लौट आएँ, उनका बापू

लेने गया हुआ है।"

वीरां जब उठने लगी, जगदीप ने उसकी बाँह पकड़ ली, "बस, जी भर गया बातें करके ?"

"चौके की खबर लूँ, तू बातों से तो रोटी नहीं खाएगा !"

"रोटी खाने को रोज मिलती है, तेरी बातें तो नहीं मिलेंगी।" जगदीप हँसने लग गया। वीरां को खुश देखकर आज वह बड़ा खुश था। वह ऐसे खुश था जैसे कोई अपनी बेटी-बहन को खुश देखकर खुश हो।

"यहाँ मेरे पास आकर बैठ जा, ऊँचा मूढ़ा रख देती हूँ।" और वीरां ने चौके में मूढ़ा रखकर जगदीप को अपने पास बुला लिया। स्वयं वह दहलीज में बैठकर दाल चीनने लग गई।

वीरां ने दाल रखी। आलू उबाले। मीठी सेवियाँ बनाई। साथ ही वह छोटी-छोटी बातों में लगी रही।

"मुझे अपने ब्याह पर बुलाएगा ? शहर की लड़कियाँ कैसी होती हैं ?···उनमें बहुत मिजाज तो नहीं होता···तेरी चाची कहती थी, तू विलायत जाएगा; वहाँ से मेम तो नहीं ले आएगा ?"

जगदीप हँसता रहा। कभी उत्तर देता, कभी नहीं देता। तवे पर से परांवठा उतार कर वीरां ने जगदीप को रोटी डाल दी।

"सबको देख लें···फिर रोटी खाएँगे।"

"जाने वे कब आते हैं···और फिर उन्हें मेरी माँ रोटी खिलाकर भेजेगी; ऐसे वह कब आने देती है।"

"अच्छा, पहले तू पका ले, तू और मैं मिलकर खाएँगे।"

"न माई। गर्म-गर्म रोटी खा।"

"ऊँ-हूँ···"

वीरां ने हार मान ली। जब पाँच-छह परांवठे पका चुकी, उसने जगदीप से कहा, "आ, माँ-बेटा मिलकर खाते हैं।"

जगदीप ने कौर तोड़ते हुए कहा, "पहले यह बता, तू मेरी माँ लगती है। बहन लगती है या बेटी लगती है।"

"मैं तेरी सब-कुछ लगती हूँ।" वीरां की आँखें सजल हो गईं।

थोड़ी-थोड़ी रात हो गई थी, जब किसीने ड्योढ़ी का द्वार खटखटाया। वीरां के दोनों बच्चे और उनका पिता आया था।

"बताओ तो भला, आज हमारे घर में कौन आया है···खिल-खिलाकर हँसती हुई वीरां ने कहा।

"मैं बताऊँ ?" जगतराम की आवाज आई।
"कभी भी नहीं बता सकते।"
"अगर बता दूँ ?"
"रुपया-रुपया शर्त।"
"तो निकाल रुपया।"
"मैं क्यों निकालूँ—आप निकालें।"
"खुद ही देगी, दूध में धोकर देगी।"
"अच्छा दो-दो रुपये ही शर्त।"
"बेशक पाँच की लगा ले, मैं ही जीतूँगा।"
"अच्छा फिर पाँच-पाँच।"
"जगदीप आया है।"
"किसने बताया ?" वीरा हैरान हुई।
"अगर वह न होता, तो क्या तू शर्त ही लगाती!" जगतराम ने हँसते हुए कहा।

जगदीप खाट पर से उठ बैठा। जगतराम उसे आलिंगनबद्ध होकर ऐसा मिला जैसे चिर से बिछड़े दोस्त मिले हों।

दोनों बच्चे चुपचाप जगदीप को देख रहे थे। बारी-बारी से दोनों को जगदीप ने गोद में ले लिया।

"इनसे तो मैं अभी दोस्ती कर लूँगा।" जगदीप ने कहा और कश्मीर से लाई फलों की पेटी खोलने लग गया।

जगतराम को मिलने से पहले जगदीप के मन में थोड़ी-सी झिझक थी, पर जगतराम की हरेक बात से उसे लगा कि जैसे कोई पुराना दोस्त मिला हो। जगतराम ने अपने हाथों खरीदी जमीन, और अपनी फसल की बातें ऐसे छेड़ दीं कि जगदीप को फिर-फिर ख्याल आता, अगर आदमी का दिल मुहब्बत की दौलत में भरा-पूरा हो, उसके हाथों क्या करामात नहीं हो सकती।

सेब और आलू बुखारे खाते बच्चे जगदीप से ऐसे बातें करते रहे जैसे चिर से हिले-मिले हों।

अगली सवेर जगदीप को वहाँ से चलना था, पर वीरां ने जब उसकी बाँह पकड़कर आँखें भर लीं—"न मेरे वीर! आज का दिन और रह ले—फिर जाने कब मिलेगा!"

जगदीप से इन्कार नहीं हुआ।

उससे अगले दिन जब जगदीप चला, उसने वीरां को बाँहों में ले लिया। वह ऐसे खुश था जैसे कोई अपनी बेटी-बहिन को खुश देखकर खुश हो।

१२

दिल्ली आकर सबसे पहला चित्र जो जगदीप ने बनाया, वह सरू के पेड़ के पास खड़ी रेखा का था, जो सुई-धागा लेकर पेड़ के हरे दानों की एक माला पिरो रही थी। चित्र में उसने रेखा का आधे से ज्यादा मुँह पत्तों की ओट में दिखाया था। उसे मालूम था, जब लोग मुँह पहचानने लगते हैं, उनकी आँखों में काँटे उग आते हैं। वे जब किसी को देखते हैं, दूसरे के मुँह पर जैसे काँटे चुभने लगते हैं। वह रेखा के मुँह को किसी भी ऐसी आँख से बचाना चाहता था।

उसने अपना और रेखा का चित्र बनाया। देखने वालों के लिए उन्हें पहचानना मुश्किल था क्योंकि देखने वालों की तरफ उनकी पीठ थी। पीले फूलों के पेड़ के नीचे वे खड़े थे। उनके पैरों के नीचे फूलों का बिछौना था और सिर पर फूलों की वर्षा।

एक चित्र में जगदीप ने बादलों की तरह अन्धेरे में झुरमुट बनाए और एक छोटी बारीक रोशनी की लकीर बनाई, जो अन्धेरे को तह चीर रही थी। इसके नीचे जगदीप ने बड़ी बारीक-सी पंक्ति लिखी : "रोशनी की एक लकीर लाख अन्धेरे को चीरती है।"

जगदीप चित्र बनाता जाता और उसका सवाल बड़ा होता जाता है। उसे लगता, रोशनी की लकीर ने जुल्म किया था, उसने उसे दिखाया था कि उसके अन्धेरे कितने गहरे थे।

प्रदर्शनी-गैलरी वालों ने जगदीप को लिखा कि वे अगले महीने जगदीप के चित्रों की प्रदर्शनी करना चाहते हैं। साथ ही उसे समाचारों की फिल्म बनाने वालों ने संदेश भेजा कि वे अगले सप्ताह उसके स्टूडियो में आकर फिल्म लेंगे। अपनी पसंद के सबसे अच्छे चित्र को आगे रखकर काम करते हुए चित्रकार की भी अगर वे तस्वीर ले सकें, तो बड़ा अच्छा होगा।

अपनी पसंद का चित्र जगदीप को जब भी चुनना होता कितने ही चित्र सामने रखता, पर उसकी निगाह एक ही स्थान पर आकर अटक जाती···सितारों वाली पोशाक पहनकर सपने की भाँति खड़ी नूरां···।

जगदीप की जिन्दगी का यह तीसरा मौका था, जबकि उसने सोचा—वह इस चित्र को फिर से बनाए।

हर बरस उसे लगता था, जैसे पिछले बरस वह अब जितना अच्छा कलाकार नहीं था, पिछले काम के लिए संतोष, संतोष न रहता। कला उसे हाथ के इशारे से अपनी ओर बुलाती, वह आगे होता, कला और आगे बढ़ जाती। इस बार जब जगदीप ने नया चित्र बनाया, तो नूरां के भोले और मासूम चेहरे में रेखा के चेहरे की गंभीरता घुल गई; एक दैवी प्रभाव पड़ता था। नूरां और रेखा जैसे मिलकर एक हो गई थीं। जगदीप को कोई अन्तर नहीं लगता था।

फिल्म ली गई। जगदीप के स्टूडियो की, दीवार के साथ लटक रहे चित्रों की, और कैनवस पर काम करते चित्रकार की। कला में लगे चित्रकार की जब उन्होंने तस्वीर ली, तो उसमें कैनवस और चित्रकार के हाथ को सामने रखा गया था, चित्रकार को नहीं। उस तस्वीर में जगदीप की पीठ दिखाई देती थी। पिछली और ऊँची जगह कैमरा रखकर फिल्म ली गई थी।

—बेचारे लोग हृदय की दीवार पर अपना नाम नहीं लिख सकते, समय की दीवार पर अपना नाम नहीं खोद सकते, झूठी तसल्ली खोजते हैं।—रेखा के बोल जगदीप को याद आए। आज की फिल्म में उसे एक बात अच्छी लगी, फिल्म में उसका मुँह सामने की ओर नहीं था। सामने उसकी कला थी, उसकी नूरां और उसकी रेखा का मुँह, जैसे समय की दीवार पर उनका नाम लिखा गया हो।

जगदीप जैसे-जैसे काम को फैलाता, उसके मन का खलाव और बढ़ता जाता। कभी-कभी उसे रेखा के बोल बींधे जाते—कभी वह भी समय आता है, जब तुम्हारी कल्पना तुम्हारी हँसी उड़ाती है···।

लोग जगदीप को कहते थे, "तेरी किस्मत की रेखा तेज है भई, नहीं तो कलाकारों को जीते-जी कौन पूछता है?···" और जगदीप के मन में एक बोल उथल-पुथल मचा देता, उसकी हथेली पर रेखा क्यों नहीं—रेखा वाली रेखा···और उसे अपने हाथ की सारी हथेली खाली लगती।

अगली सवेर नौ बजे प्रदर्शनी का उद्‌घाटन था। उस रात जगदीप का स्टूडियो चित्रों से खाली था। सारे चित्र प्रदर्शनी की गैलरी में चले गए थे; लोगों से अपना मूल्य अंकवाने के लिए।

खाली स्टूडियो में बैठे जगदीप को लगा, उसके गिर्द एक वीरानी

थी, भयानक वीरानी और फिर उस वीरानी में सोच की एक लहर आई, दूसरी लहर, तीसरी लहर और सब ओर जल-थल हो गया।

जगदीप के पैर उखड़ गए। कोई लहर इधर को धकेल देती, कोई उधर को, और उसका सारा दिल लहरों के रहम पर था।

अँधेरा घिरता गया, लहरें और ऊँची, काली तथा डरावनी होती गई। जगदीप को लगा, यह शायद उसकी ज़िन्दगी का अन्त था। उसने सब-कुछ लहरों के सुपुर्द कर दिया। उसका सारा जिस्म लहरों के थपेड़ों से हाँफ गया था।

फिर एक "जलपरी" ने लहरों को चीरा। उसके पैरों में से घुंघरुओं की झंकार आई। उसके सारे शरीर ने जैसे पानी की बूंदों की एक पोशाक पहन रखी थी, जिसमें उसके सिप्पी-जैसे सफेद चमकते जिस्म की आभा मिलती थी। उसने जगदीप को अपनी बाँहों में संभाल लिया। लहरों के सारे थपेड़े मुलायम हो गए, और मुलायम, फूल-पत्तियों से मुलायम, और वह जलपरी के बाजुओं में पत्तों पर पड़ी ओस की भाँति अचल था।

जलपरी ने अपने होंठों को झुकाया, और झुकाया, जगदीप को लगा, उसके होंठों से बड़े मुलायम और ठंडे होंठ छुए।

—तू खुश नहीं ?—जलपरी की आवाज़ आई।

—तू कौन है ?

—मैं तुझे प्यार करती हूँ।

—मुझे ?

—हाँ !

—तू नूरां नहीं ?

—नहीं, मैं नूरां नहीं।

—तू रेशा भी नहीं ?

—नहीं, मैं रेशा भी नहीं।

—फिर तू कौन है ?

—मैं तुझे प्यार करती हूँ।

—मैंने तुझे कभी नहीं देखा।

—मुझे इसी बात का दुःख है, तू मुझे देखता नहीं।

—तू कहाँ रहती है ?

—तेरे चारों ओर।

—झूठ।

—तू मुझे सच क्यों नहीं मानता ?
—तू सच नहीं ।
—मैं सुबह तेरे साथ हूंगी ।
—सुबह ?
—सुबह नौ बजे ।
—सुबह मेरे चित्रों की प्रदर्शनी है ।
—हमारे देश का सबसे बड़ा आदमी उस प्रदर्शनी को उद्घाटन करेगा, मैं एक सुगन्धि की भाँति तेरे चारों ओर फैल जाऊँगी ।
—सुगन्धि ?
—तू एक फूल है, मैं तेरी महक हूँ ।
—तेरा नाम क्या है ?
—शोहरत ।
—शोहरत ?
—मैं तुझे दुनिया का "वरदान" बनकर मिली हूँ ।
—वरदान ?
—तू देखता नहीं, कितने कलाकार तपस्या करते मर जाते हैं, मैं उन्हें कभी मिलती नहीं ।
—पर मैंने तो कोई वरदान नहीं माँगा था ?
—जो मेरे पीछे भागते हैं, मैं उन्हें कभी नहीं मिलती मैं इसलिए तुझे मिली हूँ कि तूने मुझे माँगा नहीं था ।
—पर जो कुछ मैंने माँगा था ?
—तूने क्या माँगा था ?
—अभी तूने कहा था कि तू एक फूल है ।
—हाँ ।
—मैंने माँगा था कि कोई मुझे तोड़ ले, मुझे अपने बालों में टाँक ले और मैं उसके बालों में ही समा जाऊँ ।
—फिर पता है क्या होता ?
—क्या होता ?
—उसकी महक सिर्फ़ एक को ही आती, सिर्फ़ एक आदमी को ।
—हाँ ।
—पर अब तेरी महक सारे बाग में फैलेगी, सारी दुनिया में ।
—मुझे क्या मिलेगा ?
—शोभा ।

—तू अपना वरदान लौटा ले।

—नहीं।

—यह वरदान एक पत्थर है जो मेरी जान से उठाया नहीं जाता।

—प्राण कोई अधिक देर तो रहते नहीं—चालीस, पचास, साठ वरस, पर मैं सदियों तक तेरे साथ जुड़ी रहूँगी।

—जब मैं ही नहीं हूँगा तो मैं अपने नाम को क्या करूँगा? सारी उम्र तेरा बोझ उठाए मर जाऊँगा।

—तू समझता क्यों नहीं, मैं तुझपर मेहरबान हूँ, तेरा वरदान।

—वरदान नहीं शाप!

और जगदीप ने जलपरी की बाँहों से अपने को छुड़ाने का प्रयत्न किया।

अपनी बाँहों का सारा जोर लगाते हुए जगदीप की आँख खुल गई। सवेर की रोशनी उसकी खिड़की में से आती हुई उसके कमरे में फैल गई थी। जगदीप ने कमरे में एक बार देखा, कमरा चित्रों से खाली था। उसके दिल में एक टीस उठी: आज उसकी कला भी उसे अकेला छोड़कर लोगों से अपना मूल्य आंकवाने चली गई थी।

प्रेम ने आकर जब जगदीप को देखा, विस्मित रह गया।

"आठ बज गए हैं जगदीप!"

"अच्छा।"

"तेरा नौकर दो बार चाय लाया है। पड़ी-पड़ी ठंडी हो जाती है, तू पीता ही नहीं।"

"पी लूँगा।"

"नौ बजने से दस मिनट पहले ही वहाँ पहुंचना है।"

"अच्छा।"

"लोग तुझसे होड़ करते हैं।"

"क्यों?

"यह भी कोई पूछने की बात है! तेरी उम्र के किसी कलाकार को इतनी प्रसिद्धि मिली है? इतनी प्रसिद्धि! ...शहर के सब कलाकार तेरे नाम से जलते हैं।

प्रेम ने जगदीप की बाँह पकड़ी और हाथ में तौलिया पकड़ाकर उसे गुसलखाने में भेजा।

नौ बजने में कोई पाँच मिनट थे, जब जगदीप को लिए प्रेम

प्रदर्शनी की गैलरी में पहुँचा फोटोग्राफरों के कैमरों में वारी-वारी से वल्व जलता था और बुझ जाता था। जगदीप को लगा जैसे एक-एक तारा उसके आसमान पर चढ़ता और फिर टूटता जाता था।

देश के प्रिय नेता को जी भरकर देखने की जगदीप की पुरानी ख्वाहिश थी। आज वही प्रिय नेता उसके चित्रों की प्रदर्शनी का उद्घाटन करने आया था। जब उसने एक बार जगदीप को अपनी बाँह में लिया और फिर प्रदर्शनी-गैलरी के द्वार के आगे लगे हुए रिबन को खोला, जगदीप को लगा, एक बार उसका आसमान रोशनी से जगमगा गया। दूसरे क्षण ही वह सूरज डूब गया और आसमान पहले से ज्यादा अन्धकारमय हो गया।

गैलरी लोगों से भर गई। किसी की आँखें किसी चित्र की ओर तो किसी की किसी चित्र की ओर थीं।

"जगदीप।···धीमी-सी आवाज़ आई।

"रेखा···" जगदीप ने देखा, रेखा उसके कन्धे के पास खड़ी होकर आवाज़ दे रही थी।

"तुम्हें क्या हो गया रेखा···"जगदीप से देखा नहीं गया। रेखा के मुँह पर जाने किस रोग के लक्षण थे। काले रंग की गर्म शाल उसने ओढ़ रखी थी और एक दूसरी लड़की ने उसे अपनी बाँह का सहारा दिया हुआ था। कोई एक बरस से इन्हें ज्वर आ रहा है। आज भी उठने की हिम्मत नहीं थी, पर इनकी जिद थी यहाँ आने के लिए।" रेखा की सहेली ने कहा।

जगदीप से बोला नहीं गया।

"मैं आज बहुत खुश हूँ, जगदीप! मुझे बहुत तमन्ना थी आज का दिन देखने की। मेरे साथ होकर मुझे सारे चित्र दिखलाओ।"

जगदीप को लगा, उसके आँसुओं ने उसकी आँखें देख ली थीं और उसके होंठों में बोलने की शक्ति नहीं थी।

"यह पीले फूलों का पेड़···यह चित्र कब बनाया था?" रेखा धीरे-धीरे चलती गई और चित्र देखती गई।

"यह हाउस वोट···यह बारादरी की खिड़की—यह बड़ी सुन्दर है जगदीप—अन्धकार वाला चित्र—जैसे उसकी तहें भी दिख रही हों···और चित्र के नीचे रेखा ने पढ़ा—"रोशनी की एक लकीर लाख अँधेरे को चीरती है।"—उसकी अपनी पंक्ति।

अपनी शाल के आँचल से रेखा ने एक बार अपनी आँखें पोंछीं।

सामने 'सपना' चित्र था। सितारों की पोशाक पहने खड़ी लड़की।

"यह वह चित्र तो नहीं जो इच्छावल के उस कमरे में लगा हुआ था।"

"नहीं, फिर से बनाया है।"

न रेखा से कदम उठाया गया, न जगदीप से। फिर जगदीप ने धीमे से कहा : "कुछ अन्तर लगता है ?"

"हाँ।"

"क्या ?"

"जैसे एक मुँह में कोई दूसरा मुँह घोल दिया गया हो।"

एक बार तो जगदीप को लगा, उसका परिश्रम सफल हुआ। रेखा ने नूरां के मुँह में मिला हुआ अपना मुँह पहचान लिया था। साथ ही उस क्षण जगदीप के मन में एक सवाल पैदा हुआ—"कौन-सी जगह ? इस परिश्रम के लिए रेखा के पास कौन-सी जगह थी ? जिन्दगी के पास कौन-सी जगह थी ?"

अगला चित्र सरू के पेड़ के पास खड़ी होकर हरे दानों की माला पिरो रही लड़की का था।

"सरू के दाने···।" रेखा ने कहा।

"माला तो मैंने स्वयं पिरोई थी। तुमने नहीं।" जगदीप के स्वर में एक उलाहना-सा था।

रेखा से कितनी देर कोई जवाब नहीं बन पड़ा, फिर धीमे से कहने लगी—"मेरे पास हाथ ही कहाँ थे माला पिरोने के लिए···"

रेखा से खड़ा नहीं रहा गया। उसने दीवार का सहारा लिया। रेखा की सहेली ने रेखा से बड़े मिन्नत के स्वर से कहा—"अब लौट चलें, तकलीफ बढ़ जाएगी।"

"कहाँ जाना है ?"

"मैं यहीं हूँ दिल्ली में।"

"कब से ?"

"चार महीने हो गए हैं।"

"चार महीने ?"

"कहते हैं—यहाँ अच्छे डॉक्टर हैं।"

"मुझे खबर क्यों नहीं दी ?"

रेखा ने कितनी देर खामो[illegible] कहा—'

मुझे बीमारी की दशा में न [illegible]

"पगली।" जगदीप के मुंह से निकला। सहेली ने रेखा की बांह पकड़ी और उसे चलने को कहा।

"मैं साथ चलूं?" जगदीप ने पूछा।

'आपका यहीं रहना ठीक है, सब लोग आपके लिए आए हैं।"

"मैं यहां क्या करूंगा, चित्र लगे हुए हैं, स्वयं लोग देखते रहेंगे।"

"मेरे साथ चलेंगे?" रेखा ने धीमे से कहा।

जगदीप ने जैसे रेखा के मुंह की ओर देखा। रेखा को लगा, जैसे दुनिया में एक क्षण उसने जी लिया हो।

रेखा को उसकी सहेली बांह का सहारा दिए रही। रेखा धीरे-धीरे चलती बाहर के दरवाज़े तक आई। जगदीप उसके साथ था।

"आपकी एक पेंटिंग तो मैंने पहले देखी थी, आज सब देख ली हैं।" रेखा की सहेली ने रास्ते में जगदीप से कहा।

"एक पहले देखी थी? कब?"

सहेली ने हंसकर रेखा की ओर इशारा करते हुए जगदीप से कहा—"रेखा भी तो एक पेंटिंग है, यह भी तो आपकी है।"

जगदीप को लगा, आज दुनिया की सबसे बढ़िया पेंटिंग पर जैसे किसीने उसका नाम लिख दिया हो। उसने रेखा को हौले से अपने पहलू में ले लिया।

१३

जिस दिन जगदीप रेखा को छोड़कर अपने घर लौट रहा था, रास्ते में पानी टपकने लगा। मेंह की फुहार इतनी तीखी थी, चार कदम चलना भी मुश्किल हो गया। सड़कों पर जा रहे लोगों ने निकट ही दुकानों के बरामदों में सहारा लिया। पर जहां पर जगदीप था, कोई बरामदा उसके निकट नहीं था। एक वृक्ष था, जगदीप उसके नीचे खड़ा हो गया। मेंह क्या था, तूफान था। वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ जगदीप निचुड़ने लग गया। सर्दियों के दिन थे। जगदीप का शरीर कांपने लगा। नज़दीक कोई सहारा नहीं था। सड़क पर से कुछ कारें गुजर रही थीं। जहां जगदीप खड़ा था, बाएँ हाथ सड़क का चौक था। सामने कुछ कारें रुक गईं, सिपाही का हाथ दूसरी ओर था और रुकी कारों वाले अपने हाथ की इन्तज़ार में थे। सामने लाल रंग की कार में, जगदीप ने देखा, रामिन्दर बैठी थी—अगली सीट पर। वह कार

सामने 'सपना' चित्र था। सितारों की पोशाक पहने खड़ी लड़की।

"यह वह चित्र तो नहीं जो इच्छावल के उस कमरे में लगा हुआ था।"

"नहीं, फिर से बनाया है।"

न रेखा से कदम उठाया गया, न जगदीप से। फिर जगदीप ने धीमे से कहा : "कुछ अन्तर लगता है ?"

"हाँ।"

"क्या ?"

"जैसे एक मुँह में कोई दूसरा मुँह घोल दिया गया हो।"

एक बार तो जगदीप को लगा, उसका परिश्रम सफल हुआ। रेखा ने नूरा के मुँह में मिला हुआ अपना मुँह पहचान लिया था। साथ ही उस क्षण जगदीप के मन में एक सवाल पैदा हुआ—"कौन-सी जगह ? इस परिश्रम के लिए रेखा के पास कौन-सी जगह थी ? जिन्दगी के पास कौन-सी जगह थी ?"

अगला चित्र सरू के पेड़ के पास खड़ी होकर हरे दानों की माला पिरो रही लड़की का था।

"सरू के दाने···।" रेखा ने कहा।

"माला तो मैंने स्वयं पिरोई थी। तुमने नहीं।" जगदीप के स्वर में एक उलाहना-सा था।

रेखा से कितनी देर कोई जवाब नहीं बन पड़ा, फिर धीमे से कहने लगी—"मेरे पास हाथ ही कहाँ थे माला पिरोने के लिए···"

रेखा से खड़ा नहीं रहा गया। उसने दीवार का सहारा लिया। रेखा की सहेली ने रेखा से बड़े मिन्नत के स्वर से कहा—"अब लौट चलें, तकलीफ बढ़ जाएगी।"

"कहाँ जाना है ?"

"मैं यहीं हूँ दिल्ली में।"

"कब से ?"

"चार महीने हो गए हैं।"

"चार महीने ?"

"कहते हैं—यहाँ अच्छे डॉक्टर हैं।"

"मुझे खबर क्यों नहीं दी ?,'

रेखा ने कितनी देर खामोश रहकर कहा—"सोचती थी, आप मुझे बीमारी की दशा में न देखें।"

"पगली।" जगदीप के मुंह से निकला। सहेली ने रेखा की बांह पकड़ी और उसे चलने को कहा।

"मैं साथ चलूं ?" जगदीप ने पूछा।

"आपका यहीं रहना ठीक है, सब लोग आपके लिए आए हैं।"

"मैं यहां क्या करूंगा, चित्र लगे हुए हैं, स्वयं लोग देखते रहेंगे।"

"मेरे साथ चलेंगे ?" रेखा ने धीमे से कहा।

जगदीप ने जैसे रेखा के मुंह की ओर देखा। रेखा को लगा, जैसे दुनिया में एक क्षण उसने जी लिया हो।

रेखा को उसकी सहेली बांह का सहारा दिए रही। रेखा धीरे-धीरे चलती बाहर के दरवाजे तक आई। जगदीप उसके साथ था।

"आपकी एक पेंटिंग तो मैंने पहले देखी थी, आज सब देख ली हैं।" रेखा की सहेली ने रास्ते में जगदीप से कहा।

"एक पहले देखी थी ? कब ?"

सहेली ने हँसकर रेखा की ओर इशारा करते हुए जगदीप से कहा—"रेखा भी तो एक पेंटिंग है, यह भी तो आपकी है।"

जगदीप को लगा, आज दुनिया की सबसे बढ़िया पेंटिंग पर जैसे किसीने उसका नाम लिख दिया हो। उसने रेखा को हौले से अपने पहलू में ले लिया।

१३

जिस दिन जगदीप रेखा को छोड़कर अपने घर लौट रहा था, रास्ते में पानी टपकने लगा। मेंह की फुहार इतनी तीखी थी, चार कदम चलना भी मुश्किल हो गया। सड़कों पर जा रहे लोगों ने निकट ही दुकानों के बरामदों में सहारा लिया। पर जहां पर जगदीप था, कोई बरामदा उसके निकट नहीं था। एक वृक्ष था, जगदीप उसके नीचे खड़ा हो गया। मेंह क्या था, तूफान था। वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ जगदीप निचुड़ने लग गया। सर्दियों के दिन थे। जगदीप का शरीर कांपने लगा। नजदीक कोई सहारा नहीं था। सड़क पर से कुछ कारें गुजर रही थीं। जहां जगदीप खड़ा था, बाएं हाथ सड़क का चौक था। सामने कुछ कारें रुक गईं, सिपाही का हाथ दूसरी ओर था और रुकी कारों वाले अपने हाथ की इन्तजार में थे। सामने लाल रंग की कार में, जगदीप ने देखा, रामिन्दर बैठी थी—अगली सीट पर। वह कार

स्वयं चला रही थी, ड्राइवर पिछली सीट पर बैठा था। यद्यपि बहुत बरस हो गए थे रामिन्दर को देखे, पर जगदीप ने उसे पहचान लिया। । फिर रामिन्दर की निगाह बाईं ओर गई, वृक्ष के नीचे, जहाँ जगदीप खड़ा हुआ था। रामिन्दर ने जैसे चौंककर देखा। जगदीप को संदेह नहीं रहा कि रामिन्दर ने भी उसे पहचान लिया था। एक झटके के साथ रामिन्दर ने मुँह फेर लिया। सिपाही ने हाथ दे दिया था। तेज़ी के साथ रामिन्दर की कार वहाँ से गुज़र गई।

पानी से निचुड़ते और सर्दी से काँपते जगदीप को हँसी आ गई। उसे याद आया, रामिन्दर के माडल से उसने जो पहला चित्र बनाया था, उसका नाम 'दुनिया' रखा था। उस समय उसे मालूम नहीं था, दुनिया का व्यवहार कैसा होता है। दुनिया उसे ख़रीद लेना चाहती थी, उसे गुलाम बना लेना चाहती थी, उसके 'सपने' को टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहती थी। फिर जगदीप को लगा, दुनिया ताश के पत्तों के खेल की तरह होती है, रामिन्दर रमी-ताश के पत्तों का खेल है। यद्यपि कोई कितनी भी समझदारी से खेले, अगर उसके पत्ते ही छोटे हों, वह क्या कर सकता है। कोई भी ईमानदारी उसके छोटे पत्तों को बड़ा नहीं बना सकती.........

फिर एक खाली टैक्सी गुज़री, जगदीप ने हाथ दिया और टैक्सी में बैठकर अपने घर आ गया।

उस रात प्रेम ने आकर जगदीप से कहा :

"सुबह क्या किया ?"

"क्यों ?"

"प्रदर्शनी-गैलरी में से चला क्यों आया ?"

"पर इसमें क्या बात थी ?"

"लोग बातें करते थे।"

"लोगों को इससे क्या वास्ता था ?"

"तू नहीं जानता जगदीप। लोगों को करने के लिए कोई बात चाहिए।"

"पर वहाँ लोग कहाँ थे, या तो आर्टिस्ट थे या आर्ट के क़द्रदान। मैं चला आया था, मुझसे उन्हें क्या, मेरा आर्ट तो वहीं था......"

"कितने आर्टिस्ट होते हैं इस दुनिया में।" और कितने आर्ट के

कद्रदान ?···बार-बार रेखा का नाम लेते थे।"

"रेखा का ?"

"उसकी भी तो तेरे जितनी शोहरत है ? वैसे किसी ने देखा हो चाहे न, चित्रों से पहचान जाते हैं, कई बार उसके चित्र छपते हैं, अखबारों में···।"

"पर इसमें क्या गुनाह हुआ, रेखा बीमार है, इतनी बीमार···।"

"लोगों को किसीके दुःख से वास्ता नहीं होता जगदीप।"

"आज मुझे कुछ न कह प्रेम ! ······"

घंटा-भर बारिश में भीगकर जगदीप को जरा-सा ज्वर हो आया था। प्रेम ने उसे ब्रांडी के दो चम्मच दिए और कमरे में कोयलों की एक अंगीठी रखवा दी। प्रेम पिछले तीन बरस से जगदीप के घर पर ही रहता था। तीन बरस हुए, जब अपने दो कमरे बन्द करके और तीसरा कमरा प्रेम को देकर जगदीप दक्षिण की ओर गया था, प्रेम तभी से वहाँ रह रहा था। जगदीप जब वापस लौटा था, तब दिल्ली में मकान मिलने मुश्किल हो गए थे। वैसे भी जगदीप को प्रेम अच्छा लगता था। उसमें कोई हुनर नहीं था, एक सरकारी दफ्तर में वह काम करता था, पर उसमें हुनरमंदों वाला दिल था। दुनिया की अच्छी किताबों से उसका कमरा भरा हुआ था। रात को जगदीप को जब फुर्सत होती, तो वह उसे किताबों के सुन्दर-से-सुन्दर वाक्य सुनाता हुआ अच्छा लगता था। उस रात प्रेम अपने कमरे में नहीं सोया, जगदीप के पलंग के पास पड़े सोफे पर ही सो गया। कोई आधी रात के समय प्रेम ने उठकर देखा, जगदीप को बहुत तेज बुखार चढ़ा हुआ था।

दूसरी सवेर जगदीप का वादा था रेखा के यहाँ जाने का। जगदीप ने प्रेम से कहा था कि उसके लिए एक टैक्सी मँगवा दे। "मरने की इतनी जल्दी क्या पड़ी है।" प्रेम ने गुस्से के साथ कहा। और जगदीप को चाय का प्याला देकर कहने लगा, "मैं आध घंटे में आ जाऊँगा, दफ्तर में छुट्टी की अर्जी दे आऊँ और लौटते हुए डाक्टर को भी लेता आऊँगा। अगर तू यहाँ से हिला भी······"

"पर प्रेम·········"

"अच्छा, मुझे घर का पता बता दे, मैं रेखा को खबर करता आऊँगा।"

"नहीं, नहीं"'वह आप ही बीमार है।"

"शाम तक तेरा बुखार उतर जाएगा भई, कल सवेरे चले जाना।" प्रेम ने कंबल को अच्छी तरह से जगदीप के गिर्द लपेटा और कहा—"बाहर से मैं ताला लगा जाऊँगा, अगर तूने ज़िद की और……"

प्रेम चला गया। आध घंटा या चालीस मिनट गुज़रे होंगे, जब प्रेम ने कमरे में आकर हौले से जगदीप के माथे पर हाथ रखा :

"डॉक्टर आया है।"

"डॉक्टर ?"

"भीतर ले आऊँ ?"

"ले आ।"

प्रेम ने छोटा सोफा पलँग के पास कर दिया और जब कमरे से बाहर जाने लगा, जगदीप ने आवाज़ दी—"प्रेम !…"

"क्या बात है ?"

"उधर गया था ?"

"किधर ?"

"क्यों सताता है ?"

"अभी वक्त नहीं मिला; थोड़ी देर में ही आऊँगा।" प्रेम हँस दिया। जगदीप कुछ कहने लगा था, जब कि रेखा कमरे की दहलीज़ के पास आ गई। प्रेम ने जगदीप के कान के पास होकर कहा : "डॉक्टर आया है।"

"तुम रेखा ?"

"बुखार क्यों चढ़ा लिया ?"

'कुछ भी नहीं रेखा, पर तुम क्यों आईं ?"

मेरी तबीयत आज अच्छी थी—बहुत अच्छी।"

"फिर से खराब हो गई तो ?"

"नहीं होती…आज नहीं होती…"रेखा सोफे पर बैठ गई।

प्रेम शायद चाय बनवाने चला गया था।

"बहुत भीग गए थे बारिश में ?" रेखा ने हौले से कहा।

जगदीप को कल की बारिश याद आई और फिर उसके पास से रामिन्दर का मुँह फेरकर कार ले जाना याद आया। उसे ख्याल आया—जब कोई दुनिया का गुलाम नहीं बनता, दुनिया उससे मुँह मोड़ लेती है। "दुनिया मुँह मोड़ ले, वह अपने 'सपने' के टुकड़े नहीं होने देगा।—जगदीप के मन में एक रोष भर आया।

"ऐसी बारिश रोज हो···" जगदीप हँस दिया।

"श्रौर रोज बुखार चढ़े ?"

"हाँ, तो रोज कोई खबर लेने श्राए।

"तुम पैण्ट पहनकर क्यों सोए हुए हो—तंग नहीं होते ?"

"नहीं रेखा, मैं हमेशा इसी तरह सोता हूँ।"

"पैण्ट पहनकर ?" रेखा जैसे हैरान रह गई।

जगदीप हँस दिया—"मुझमें एक कम्पलेक्स है रेखा। मैं पायजामा पहन ही नहीं सकता, खासकर लकीरों वाला।"

"कैसा कम्पलेक्स ?"

"बात तो कोई नहीं इतनी पर अपना निशान छोड़ गई है। जब मैं नया-नया शहर में आया था, तो अपने स्कूल में पायजामा पहनकर गया था, लकीरों वाला पायजामा। मुझे क्या मालूम, शहरों में लोग लकीरों वाला पायजामा सोते वक्त पहनते हैं···'

"फिर ?···" रेखा हँस दी।

"मुझे बताए कोई नहीं, पर सब लड़के मुझे देखकर हँसें···एक दिन गुजरा, दो दिन श्रौर तीन दिन गुजरे, लड़के मुझे इसी तरह से देखें। मेरा दिल करे कि मैं स्कूल से भाग जाऊँ, शहर से भाग जाऊँ ? मैं मर जाऊँ।" जगदीप हँसने लगा—"फिर मेरी ड्राइंग इतनी अच्छी थी, मेरे मास्टर ने मेरी कापी को बोर्ड पर लाकर रखा, मेरी पीठ थपथपाई। मैं उसके आगे रो दिया श्रौर अपना दिल खोल दिया।"

"उसने फिर बताया होगा कि······"

"हाँ रेखा ! मैंने अगले दिन से पायजामा पहनना छोड़ दिया। श्रौर फिर बाहर तो क्या, कभी घर भी नहीं पहन सका, सोते समय भी नहीं······लकीरों वाला तो भला नहीं पहनना था, दूसरा भी नहीं पहन सकता।"

रेखा इतने बड़े चित्रकार के इतने बड़े कम्पलेक्स पर खिलखिलाकर हँस दी। श्रौर उसे जगदीप के मन की सादगी सारे हुनरों से बड़ी लगी।

इतनी देर में प्रेम ने आकर कहा, "डाक्टर आया है।"

"कितने डाक्टर बुलाएगा ?" जगदीप हँस दिया।

"अब एक नकली डाक्टर लाया हूँ।" प्रेम भी हँस पड़ा।

डाक्टर ने आकर पाँच-सात मिनट देखा। थर्मामीटर लगाया श्रौर फिर रेखा की श्रोर मुँह करके कहने लगा—"तीन-तीन घण्टे बाद

खुराक देना। अगर सिर में दर्द ज्यादा हो तो थोड़ी-सी विक्स लगा देना।"

"अच्छा जी।" रेखा ने हौले से कहा और सिर नीचा डाल लिया।

डाक्टर चला गया। प्रेम भी उसी के साथ दवाई लेने चला गया। जगदीप ने देखा, रेखा की आँखें आँसुओं से छलछला आई थीं। दोनों ने कुछ कहना चाहा, पर कह न पाए। जगदीप ने रेखा का हाथ पकड़ लिया। रेखा ने अपना सिर सोफे की बाहों से लगा लिया। आँसुओं की कितनी ही बूँदें रेखा के मुँह को भिगो गईं।

कोई पन्द्रह-बीस मिनट के पश्चात् प्रेम ने आकर दवाई की शीशी और विक्स की शीशी मेज पर रखी और हँसते हुए रेखा से कहने लगा, "तीन-तीन घण्टे बाद खुराक दे देना—अगर सिर में दर्द ज्यादा हो तो थोड़ी-सी विक्स लगा देना।"

रेखा हँस दी।

"तू कहाँ चला?" जगदीप ने प्रेम को डांट दिखाते हुए कहा।

"यार! दफ्तर से छुट्टी नहीं मिली, दफ्तर जाना है।"

"चल, बैठ यहाँ…"

तीनों हँस दिए और प्रेम कुर्सी पर बैठ गया।

जगदीप को दवाई की खुराक देकर रेखा ने पूछा, 'सिर में दर्द तो नहीं ज्यादा?" जगदीप 'नहीं' कहने लगा था, उसे थोड़ी-सी हँसी आ गई और उसने कहा, 'बहुत सख्त!' रेखा हँस दी, पर अपनी पीली और कमजोर अंगुलियों से जगदीप के माथे पर विक्स लगाने लगी।

प्रेम ने नौकर से चाय बनाने के लिए कहा। जब चाय आई, रेखा से चाय का प्याला लेते हुए जगदीप ने कहा, "अगर ऐसी सेवा हो तो तन्दुरुस्त होने की क्या आवश्यकता…।"

बीमारी ने रेखा को कुछ सांवला कर दिया था। रेखा की बाँहों से जगदीप ने अपनी बाँहों को मिलाते हुए कहा, "चारों बाहों का रंग एक-सा है रेखा! बताओ, तुम्हारी कौन-सी हैं और मेरी कौन-सी?"

पहले रेखा के दिल में आया कि यह कह दे: चारों तुम्हारी। पर फिर रेखा के मुँह पर उदासी की एक परछाईं पड़ी और उसने अपनी दोनों बाहों की ओर देखकर कहा, "ये मेरी रहीं नहीं।" और फिर एक साँस खींचकर वह जगदीप की बाहों की ओर देखकर कहने

लगी "और यह मेरी बनने से रही।"

जगदीप से रेखा की उदासी सहन नहीं हुई। उसने अपनी दोनों बाँहें रेखा के गिर्द लपेट दीं···और फिर जो कुछ पहले रेखा कहने लगी थी, वह जगदीप के होंठों पर आ गया, "चारों तुम्हारी?"

रेखा को आए तीन घंटे हो गये थे, जबकि रेखा की सहेली उसे लेने के लिए आई। "डाक्टर को दो बजे आना है, तुम्हें इन्जेक्शन लगाने, उसका फोन आया था। एक बज चुका···।" सहेली ने रेखा से कहा और फिर जगदीप का हाल पूछने लग गई।"

"तू शाम का वक्त तय कर लेती डाक्टर से!"—एक बार रेखा ने कहा।

"मैंने बहुत कहा, पर डाक्टर माना ही नहीं···और मैं कहती क्या? मरीज तो घर से भाग आया था···" सहेली ने हौले से रेखा का हाथ दबाया।

प्रेम जाकर एक छोटी टैक्सी ले आया। रेखा जब जाने लगी, जगदीप को लगा, जिन्दगी में पहली बार आज तीन घंटे के लिए उसका घर आबाद हुआ था।

१४

एक-आध दिन में जगदीप का ज्वर उतर गया। अब वह रोज जाकर एक बार रेखा को देख आता था। रेखा के घर पर सिर्फ नौकर थे और उसकी सहेली थी। सहेली ने जैसे अपने-आपको रेखा के सुपुर्द किया हुआ था। उसका पति आजकल लन्दन में था और उसने अपने पति को लिख दिया था कि जब तक रेखा बीमार है, वह अपने घर नहीं रहेगी, वह रेखा के पास रहेगी।

जगदीप के रेखा की जिन्दगी में फिर से आने के कारण उसके मुँह पर रौनक आ गई थी, जैसे जिन्दगी ने उसकी झोली में कुछ दिनों की भिक्षा डाल दी हो। पर जिन्दगी इतनी मेहरबान नहीं थी, जितनी सबने सोच रखी थी। एक दिन अचानक ही रेखा को कै में से इतना खून आया कि डाक्टर ने भी उम्मीद छोड़ दी।

जब से जगदीप की माँ उससे छिन गई थी, जगदीप का भगवान् पर से विश्वास जाता रहा था। जगदीप को लगा था : भगवान् किसी की नहीं सुनता, भगवान् बच्चों की भी नहीं सुनता—और उसके बाद

उसने भगवान् को कभी कुछ नहीं कहा था। आज जगदीप की जिन्दगी मे दूसरी बार परीक्षा का समय था। उसके दिल की पीडा ने भगवान् से कहा—आज तुझे फिर से आजमाऊँ ?···तूने एक बालक के सच्चे दिल की लाज नहीं रखी थी···आज मुहब्बत के सच्चे दिल की भी लाज रखेगा कि नहीं ? तू रेखा को जिन्दगी दे दे, मैं दुनिया में किसी का दिल नहीं दुखाऊँगा, मैं कभी रेखा के पति का दिल भी नहीं दुखाऊँगा···।

एक दिन रेखा में पलंग पर से उठने की भी हिम्मत नही थी, पर उसने जगदीप से कहा, "मेरा तुम्हारे स्टूडियो में जाने को दिल है।"

"इस हालत मे ?"

"मेरा देखने को दिल है···सब चित्र—पीले फूलों वाले पेड़ का चित्र, हाऊस बोट वाला, सरू के पेड़ वाला···"

"मैं सारे चित्र यहीं ले आऊँगा।"

"मेरा दिल करता है कि तुम मेरे सामने बैठकर एक चित्र बनाओ।"

"मैं यहीं बना दूंगा।"

"नहीं, इस तरह नहीं—यहां तो मैं खाट पर पड़ी हूँ···तुम्हारे स्टूडियो मे बैठकर—तुम्हें याद है, एक बार तुमने मुझे एक बात सुनाई थी······"

"क्या ?"

"अपने गाँव के चौबारे में बैठकर तुमने नूरां का चित्र बनाया था।"

"हां।"

"उसने सितारों वाली चुनरी ओढी थी···मैं वही सितारों वाली चुनरी लूंगी···।"

"रेखा···।" जगदीप के आँसू उसकी आँखों में काँपने लग गए।

दूसरे दिन जगदीप ने कश्मीर के सारे चित्र लाकर रेखा के कमरे में लगा दिए। रेखा ने फिर-फिर से उन्हें देखा, और फिर कहने लगी : "तुम्हें याद है···इस पीले फूलो वाले पेड़ के नीचे बैठकर तुमने क्या कहा था ?"

"याद है, रेखा !"

"तुमने कहा था, इतने फूल गिरें···इतने···मैं बीच में लिपट जाऊँ फूलों की कब्र बन जाए···और मैं कब्र में सोया रहूँ······"

"आज ज्यादा बातें न करो रेखा, तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है।"

"आज तुम फूलों से कहो···मेरी खाट पर गिरें···इतने···इतने फूलों की कब्र में बन जाए और मैं···"

जगदीप ने अपनी हथेली रेखा के होठों पर रख दी।

"दीदी एक अखबार वाले आए हैं, तुम्हारा हाल पूछते हैं और इन्टरव्यू माँगते हैं।" रेखा की सहेली ने आकर कहा।

"उन्हें कह दे, मैं इस समय, फूलों की बातें कर रही हूँ, कांटों की बातें करने के लिए मेरे पास समय नहीं···"

रेखा की सहेली अपने आंसू न सँभाल पाई और उसी वक्त लौट गई।

दूसरे दिन जब जगदीप आया, उसने रेखा के पलँग के पास पड़े मेज को फूलों से भर दिया। रेखा ने फूल कई बार मुट्ठी में भरे। मुट्ठी भर लेती—खोल देती···फिर भर लेती। "आज मैं बहुत खुश हूँ···मुझे पिछली रात यही लगता रहा था, जैसे मैं पीले फूलों वाले पेड़ के नीचे सो रही हूँ···नीचे फूलों का बिछौना हो, ऊपर फूलों की चद्दर हो···"

"तुम्हें वह चित्र याद है रेखा ?—सपना।"

"हाँ···तारों की पोशाक वाला—पहले वह सिर्फ नूरा थी, फिर तुमने उसमें मेरी आकृति भी मिला दी थी।"

"वह सरकार ने नैशनल आर्ट गैलरी के लिए माँग लिया है।"

"मेरा नाम भी समय की दीवार पर लिखा गया है।" रेखा हँस दी। "पर जिन्दगी की दीवार पर अपना नाम कोई नहीं लिख सकता दीप।···समय की दीवारों को कोई क्या करे।" रेखा की आँखें भर आईं।

जगदीप से कुछ नहीं बोला गया।

"तुम सितारों वाली चुनरी के साथ मेरा एक चित्र बना रहे हो न···"

जगदीप से कुछ भी नहीं बोला गया। सिर के इशारे से कहा, 'हाँ!'

उस रात रेखा को खून की कै आई और वह बेहोश हो गई। दूसरे दिन सवेरे जब जगदीप आया, रेखा बेहोश थी और उसके गिर्द डाक्टर ही डाक्टर थे। रेखा की साँस अटककर देर से आने लगी, और देर से! जगदीप का सारा मन विलख उठा: आज मैंने भगवान् को दूसरी बार आजमा लिया, न वह मासूम दिलों की सुनता है और सुच्चे दिलों की।···

रेखा की सांस रुक गई। इस वक्त जगदीप की दशा को अगर कोई जानता था, वह रेखा की सहेली थी। उसे लगा, वह रो सकती थी, जी भरकर रो सकती थी पर जगदीप रो भी नहीं सकता था। वह जगदीप के पास आकर खड़ी हो गई।

"एक बात मानोगी ?" जगदीप के मुँह से निकला।

"बताओ।"

"रेखा ने सितारों वाली चुनरी माँगी थी ?"

"हाँ !"

"वह रेखा को दे दो।"

जगदीप के लिए जाना मुश्किल था। रेखा की सहेली ने जगदीप से चाबी ली और उसके घर से जाकर उसके ट्रंक में से सितारों वाली चुनरी निकाल लाई। जगदीप को लगा : उसकी माँ ने पाजेबें और चुनरी दो अमानतें उसके लिए रखी थीं। पाजेबें उसकी शोहरत ने पहन ली थीं और चुनरी आज रेखा ने ले ली थी।

"यह चुनरी बड़ी देर से रेखा ने रखी हुई थी और मुझे कहा था, मैं अन्तिम समय उस पर दे दूँ।" रेखा की सहेली ने रेखा के पति से कहा और रेखा के सिर पर चुनरी देते हुए उसे लगा, आज उसने झूठ बोला था, पर शायद इससे बढ़कर सच कोई नहीं था।

अब अखबार वालों को रोकने वाला कोई नहीं था। वे कलमें ले आए, कैमरे ले आए। जगदीप रेखा के सिर पर लपेटी हुई सितारों वाली चुनरी को देखता था जब कि रेखा की सहेली ने छोटा-सा कागज जगदीप के हाथ में देते हुए कहा, "रात को जब रेखा की हालत खराब हो गई थी, उसने दो पंक्तियाँ लिखी थीं और कहा था कि तुम्हें दे दूँ।"

जगदीप ने कागज खोल लिया। उसमें लिखा था :

"सूरज देवता द्वार पर आ गया, किसी किरण ने उठकर स्वागत न किया।"

"हमारी मुहब्बत ने एक सवाल किया, किसी भगवान् से जवाब न बन पड़ा।"

समय सहमकर रुक गया, जैसे इस सवाल को पढ़ने के लिए खड़ा हो गया हो और फिर सिर नीचा किए अपनी चाल चल दिया, जैसे उसके पास इस सवाल का कोई जवाब न था।

●●

अमृता प्रीतम

हीर-रांझा की धरती पर जन्मी अमृता प्रीतम ने अपनी जिन्दगी में हीर की तरह प्रेम में चाहे जितनी असफलता, घुटन और पीड़ा सही हो, पर उनकी कलम ने हमेशा प्रेम का अफसाना ही कहा है।

अमृताजी ने कहानी, कविता, उपन्यास, संस्मरण तथा साहित्य की लगभग प्रत्येक विधा में प्रेम के महत्व को ही रेखांकित किया है।

हिन्दी बुक सेंटर द्वारा प्रसारित उनके अन्य उपन्यास हैं : दो रंग, पक्की हवेली, बन्द दरवाजा तथा अतीत की परछाइयां।